प्रकाशक
शंकरसिंह
हिन्दी पुस्तकालय
बनारस सिटी।

मुद्रक
बजरंगबली 'विशारद'
सीताराम प्रेस, जालिपदेवी, काशी।

परिचय

स्तुत पुस्तक योगिराज श्री अरविन्द घोषकी उत्कृष्ट रचनाओंमें बड़ी ही अनूठी और नवीन रचना है। इसके बहुतसे अंशोंका फ्रेंच आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हो चुका है। अँगरेजी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओंके मर्मज्ञोंने इस पुस्तककी मुक्त कण्ठसे सराहनाएँ की हैं। मातृभाषा हिन्दीकी ओंकोर अभीतक ऐसे अद्भुत प्रभापूर्ण रत्नसे शून्य थी। हर्ष है कि आज इस कमीकी पूर्ति हो रही है।

इस पुस्तकमें दो खंड हैं, एक 'धर्म' और दूसरा 'जातीयता'। उपनिषदोंमें 'धर्म' का स्वरूप इस प्रकार दिखाया गया है,—'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् 'जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनोंकी सिद्धि हो, या उन्नति हो, वह धर्म है'। पर इससे हृदयमें यह प्रश्न उद्भूत होता है कि लौकिक और पारलौकिक उन्नति होती किससे है? इसपर उपनिषदोंकी राय है कि लौकिक और पारलौकिक उन्नति किससे होती है और किससे नहीं होती, सो बात, शृङ्खलित नहीं की जा सकती; क्योंकि कार्य्यका समयानुसार स्वरूप बदलता रहता है। किसी समय शुभ कार्य्य अधर्ममय हो जाता

है और किसी समय अशुभ कार्य भी धर्ममय हो जाता है, अर्थात् समयानुसार शुभ अशुभका और अशुभ शुभका रूप धारण कर लेता है। धर्माधर्मका निर्णय समयानुसार पवित्र बुद्धि ही कर सकती है। न तो धर्म ही सीमावद्ध है और न उसके मार्ग ही। पर उपनिषदोंके इस उत्तरसे मनका संदेह और भी विराट् रूप धारण कर लेता है। अब प्रश्न उठता है कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका। कौनसी बुद्धि इसका निर्णय कर सकती है और कौनसी बुद्धि नहीं कर सकती? और फिर यही कैसे निश्चय किया जा सकता है कि अमुक बुद्धिका निर्णय ठीक है और अमुकका नहीं? क्योंकि उपनिषदोंमें ही कहा गया है कि मनुष्य निर्भ्रान्त नहीं है, कभी कभी पुण्य-बुद्धि भी पथभ्रष्ट हो जाया करती है।

यद्यपि उक्त सन्देहोंके भी उपनिषदोंमें विस्तृत रूपसे संतोषजनक उत्तर मौजूद हैं, पर उन्हें ढूँढ़ निकालना विलक्षण बुद्धिवाले असाधारण पुरुषोंका ही काम है। उपनिषदोंके इन गूढ़ रहस्योंके समझनेमें बड़े-बड़े मेधावी ंडित और तीक्ष्ण बुद्धिवाले लोकपूज्य व्यक्ति भी असमर्थ हो जाते हैं, साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या। योगिराजने उन्हीं गूढ़ रहस्योंको वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों और पुराणादिकोंके मूल तत्वोंके आधारपर इस 'धर्म' खंडमें सुस्पष्ट और सरल करनेका प्रयास किया है। इस पुस्तकका मननपूर्वक अध्ययन करनेसे धर्मका निर्मल और सच्चा चित्र हृदयमें अंकित हो जाता है।

साथ ही शान्ति संचरित होती और बुद्धिमें कर्तव्याकर्तव्य या धर्माधर्म कर्मोंकी निर्णायिका शक्तिका आविर्भाव होता है।

गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है कि 'गहना कर्मणो गतिः'। कर्म, अकर्म और विकर्मका निर्णय करना बहुत ही कठिन काम है। धर्म-प्रकरण में इनपर भी प्रकाश डाला गया है।

प्रायः ही देखा जाता है कि बहुधा लोग 'जाति' और 'वर्ण' का एक ही अर्थ करते हैं। पर वास्तवमें दोनों शब्दोंके अर्थ एक नहीं। 'जाति' शब्दका अर्थ समष्टि-बोधक है और 'वर्ण' शब्दका अर्थ व्यष्टि बोधक; 'जाति' का अर्थ विशेष व्यापक है और 'वर्ण' का अर्थ जातिकी अपेक्षा बहुत ही संकीर्ण है ; एक जातिके अन्तर्गत बहुतसे वर्ण हो सकते हैं। योगिराजने इस पुस्तकके दूसरे खंड-(जातीयता) में 'जाति' और 'वर्ण' दोनों शब्दोंका पार्थक्य और उनका पारस्परिक अंगांगि सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। देशमें स्वतंत्रताकी आग कैसी भभक उठी, भारतीय स्वतंत्रताका आन्दोलन धार्मिक कैसे है, उत्साही नवयुवकोंके हृदयोंमें किन-किन बातोंका संचार होना आवश्यक है, जाति और धर्मका राजनीतिसे क्या सम्बन्ध है, तथा ये दोनों किस तरह नष्ट हो जाते हैं, इनके नष्ट होनेसे राष्ट्रपर कैसा असर पहुँचता है, पाश्चात्य शिक्षासे भारतकी कौनसी विशेषताएँ लोप हुई हैं, प्राच्य और पाश्चात्य निवासियोंमें क्या अन्तर है, आदि बातें भी संक्षिप्त रीतिसे स्पष्ट कर दी गयी हैं।

चित्रकलाका जातिसे बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी

जातिके गुणदोषोंको उस जातिकी चित्रकला स्पष्ट बतला देती है। पाश्चात्य विद्वानोंने भारतीय चित्रकलापर कुठाराघात किया है। कितने ही अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतवासी भी उनके चक्कर में आ गये हैं। इस पुस्तकमें उक्त विषयपर भी अच्छा प्रकाश डाल दिया गया है। इसमें ऐसी सूत्रवद्ध भाषामें और ऐसे ऐसे गहन विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है कि उन बारीकियों पर दृष्टि पड़ते ही चित्त-विह्वल हो उठता है।

अस्तु; विषय बड़ा ही गहन है; यथाशक्ति लेखकके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषा सरल लिखनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। जहाँ तहाँ अर्थ सरल करने के लिये टिप्पणियाँ भी दे दी गयी हैं। तिसपर भी कहीं-कहीं शब्द-काठिन्य अवश्य ही रह गया है। इस प्रकारके अध्यात्मके परिभाषिक और औदाहरणिक शब्दोंकी कठिनताके लिये सहृदय साहित्यानुरागी महानुभावोंके समक्ष लाचारी प्रकट करने के सिवा और किया ही क्या जा सकता है। आशा है कि विज्ञ पाठक गण इस पुस्तकका अवलोकन कर हमारा परिश्रम सफल करेंगे।

ता० १८-८-२२
साहित्याश्रम,
पो० कछवा, मिर्जापुर।

विनीत—
देवनारायण द्विवेदी

विषय सूची

धर्म्म

जातीयता

योगिराज अरविन्द

हमारा धर्म

मारा धर्म सनातन धर्म है । यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है । अन्तरात्मा, मानसिक जगत और स्थूल जगत—इन तीनों स्थानों में भगवान प्रकृतिसृष्ट यानी प्रकृति से उत्पन्न महाशक्ति द्वारा चलनेवाले विश्वरूप में आत्मप्रकाश कर रहे हैं । इन तीनों स्थानों में उनके साथ युक्त होने की चेष्टा ही सनातन धर्मका त्रिविधत्व है। इसीसे हमारा धर्म त्रिविध है । ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों स्वतंत्र मिलित उपायोंद्वारा वह युक्तावस्था मनुष्यको प्राप्त होती है । इन्हीं तीनों उपायोंद्वारा ही आत्म-शुद्धि करके भगवानके साथ युक्त यानी भगवानमें मिल जानेकी इच्छा सनातन धर्मकी त्रिमार्ग-गामी गति है, इसलिये हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है । मनुष्यकी सारी वृत्तियोंमें सत्य, प्रेम और शक्ति—ये ही तीन प्रधान वृत्तियाँ ऊर्ध्व-गामिनी और ब्रह्म-प्राप्ति-बल-दायिनी हैं । इन्हीं

तीन वृत्तियोंके विकाससे मानव जातिकी धीरे-धीरे उन्नति होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिद्वारा त्रिमार्ग यानी ज्ञान, भक्ति और कर्ममें अग्रसर होना ही सनातन धर्मका त्रिकर्म है, अतः हमारा धर्म त्रिकर्मरत है।

सनातन धर्ममें बहुतसे गौण धर्म स्थापित हुए हैं। सनातनधर्मके सहारे परिवर्त्तनशील, बड़े-छोटे अनेक तरहके धर्म अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त हैं। सब तरहके धर्म कर्म स्वभाव-सृष्ट यानी स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। सनातन धर्म जगतके सनातन स्वभावके आश्रित है और जितने अनेक तरहके धर्म हैं वे सब भिन्न भिन्न आधार-गत स्वभावके फल हैं।

व्यक्तिगत धर्म, जातिका धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि अनेक धर्म हैं। अनित्य कहकर वे सब उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं, क्योंकि इन अनित्य परिवर्त्तनशील धर्मोंद्वारा ही सनातनधर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्तिगत धर्म, जातिधर्म वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म छोड़ देनेसे सनातन धर्मकी दृढ़ता कदापि नहीं हो सकती। इनके छोड़नेसे अधर्म ही बढ़ता है; और जातिमें जिसे 'संकर' अर्थात् सनातन प्रणाली भंग और क्रमशः उन्नतिकी विपरीत गति—कहा गया है, वे अधिक होकर पृथ्वीको पाप और अत्याचारसे पीड़ित करते हैं। जब उसी पाप और अत्याचारकी मात्रा हद्दसे जियादा हो जाती है और मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्म-नाशिनी सारी राक्षसी शक्तियाँ वर्द्धित और बलयुक्त होकर

स्वार्थ, क्रूरता एवं अहंकारसे पृथ्वी-मण्डलको आच्छादित कर लेती है अनीश्वर जगतमें ईश्वरका सृजन आरम्भ करती है, तब भारार्त्त अर्थात् पाप और अत्याचारके बोझसे व्याकुल पृथ्वीके दुःखको दूर करनेके लिये साक्षात् भगवान अवतार लेकर अथवा अपनी विभूति मानव शरीरमें प्रकाश कर हमारा धर्म-पथ निष्कण्टक करते हैं।

व्यक्तिगत धर्म, जातिका धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्मका मानना सनातन धर्मका उचित रूपसे पालन करनेके लिये सदैव रक्षणीय है अर्थात् व्यक्तिगत धर्म, जातिका धर्म वर्णाश्रित धर्म और युग-धर्मकी रक्षा करनेसे ही सनातन धर्मकी रक्षा होती है। किन्तु इन अनेक तरहके धर्मोंमें क्षुद्र और महान दो रूप हैं। क्षुद्र धर्मको महान धर्ममें मिलाकर और संशोधन करके धर्मारम्भ करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगत धर्मको जाति-धर्मके अंकाश्रित न करनेसे जाति नष्ट हो जाती है और जातिधर्मका लोप हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मके प्रसारका क्षेत्र और सुयोग भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जातिधर्मका नाश करनेवाले धर्मसंकर अपने प्रभावसे जाति और अपने दल (संकरकारी गण) दोनोंको दारुण दुःख-कुण्डमें निमग्न कर देते हैं। जब तक जातिकी रक्षा नहीं होती, तबतक व्यक्तिकी उन्नति नहीं होती। जातिकी रक्षा करनेसे व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति बिना विघ्न-बाधाके हो जाती है। युगधर्मानुसार न चलनेसे वर्णा-

श्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण होकर समाजको भी नष्ट कर देता है। सारांश यह है कि क्षुद्र सर्वदा महत्‌का अंश अथवा सहायक स्वरूप है, इस सम्बन्धकी विपरीतावस्थामें धर्म-संकरोंकी उत्पत्तिसे महान अनिष्ट ही होता है। क्षुद्र धर्म और महान धर्ममें विरोध होनेसे क्षुद्रधर्मका परित्याग कर महान धर्म का आश्रय लेना ही मङ्गलप्रद है।

हमारा उद्देश्य है सनातन धर्मका प्रचार और उसके आश्रित जातिधर्म और युग-धर्मका अनुष्ठान। हम भारत-वासी आर्योंके वंशज हैं। हमलोग आर्यशिक्षा और आर्यनीति-के पूर्ण अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुल-धर्म और जातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति, और निष्काम कर्म ही आर्यशिक्षा का मूल तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय अर्थात् नम्रता ही आर्य-चरित्रका लक्षण है। मानव-जातिको ज्ञानी बनाना, संसारको उन्नत तथा उदार चरित्रकी निष्कलंक शिक्षा देना, निर्बलोंकी रक्षा करना तथा प्रबल अत्याचारियों-को दंड देना, आर्योंके जीवनका उद्देश्य है और इसी उद्देश्य-का साधन करनेमें आर्योंके धर्मकी चरितार्थता भी है। हम-लोग धर्म-भ्रष्ट, लक्ष्य-भ्रष्ट, धर्म-संकर और भ्रम-पूर्ण तामसी मोहमें पड़कर आर्योंकी शिक्षा और नीति दोनों खो बैठे हैं। आर्योंके वंशज होते हुए भी हमलोग शूद्रत्व और शूद्र-धर्म रूपी दासत्व स्वीकार कर संसारमें हेय प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्परा-प्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि इससे

छुटकारा पाना है, यदि यमपुरीकी भीषण यातनासे मुक्त होनेकी ज़रा भी अभिलाषा है, तो सबसे पहले जातिकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु जातिकी रक्षा तभी हो सकती है जब आर्य-चरित्रका पुनर्गठन होगा। सारी जातिको, खासकर नवयुवकोंका—उसी तरहकी उपयुक्त शिक्षा, उच्चादर्श, आर्य भावोद्दीपक कर्म-प्रणालीका प्राप्त करना आवश्यक है जिससे जननी जन्म-भूमिके भविष्यमें पैदा होनेवाले बच्चे ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मनुष्य-प्रेमी, मातृ-भावके भावुक, साहसी शक्तिसम्पन्न और विनम्र हों। बिना ऐसा किये सनातन-धर्मका प्रचार करना ऊसरमें वीज वोनेके समान है।

जाति-धर्मकी स्थापना करनेसे युग-धर्म-सेवा सहज-साध्य होगी। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जिस समय कलियुगका आरम्भ होता है उस समय ज्ञान और कर्म भक्ति के अधीन और उसके सहायक होकर अपनी अपनी प्रवृत्ति चरितार्थ करते तथा सत्य और शक्तिको प्रेमके आश्रित कर मानव-समाजमें प्रेम-विकाश करनेकी चेष्टा करते हैं। बौद्ध-धर्मकी मैत्री और दया, खीष्ट धर्मकी प्रेम-शिक्षा, मुसलमान धर्मका साम्य और भ्रातृ-भाव पौराणिक धर्मकी भक्ति और प्रेम-भाव, ये सब उस चेष्टाके फलस्वरूप हैं। कलियुगमें मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृ-भावकी सहायता लेकर ही सनातन-धर्म मानव-समाजका कल्याण कर सकता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मसे गठित आर्य-धर्म ये

सब शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर विस्तार और अपनी प्रवृत्तिमें सफल होनेके लिये यथार्थ मार्ग ढूँढ़ रही हैं। कठिन तपस्या, उच्चाकांक्षा और श्रेष्ठ-कर्म, शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं। यह आर्य-जाति जिस समय तपस्वी, उच्चाकांक्षी और महत् कर्म-प्रयासी हो जायगी, उस समय समझ लेना होगा कि संसारकी उन्नतिके दिनका आरम्भ हो गया, अब धर्म विरोधिनी राक्षसी शक्तिका नाश और देव-शक्तिका पुनरुत्थान अनिवार्य है। इसलिये इस प्रकारकी शिक्षा भी आधुनिक समयके लिये प्रयोजनीय है।

युग-धर्म और जाति-धर्म ठीक रहनेसे जगन्मय सनातन धर्म बिना किसी प्रकारकी रुकावटके प्रचारित और अनुष्ठित होगा। विधाताने पहलेसे जो कुछ निर्दिष्ट किया है तथा जिस सम्बन्धमें भविष्योक्तियाँ शास्त्रोंमें लिखी हैं, वे भी कार्य-रूपमें परिणत हो जायँगी। सारा संसार आर्य देशोत्पन्न ब्रह्मज्ञानियोंके समीप ज्ञान-धर्म और शिक्षाप्रार्थी होकर भारत-भूमिको तीर्थ मानेगा और अपना मस्तक झुकाकर उसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। पर वह दिन तभी आवेगा, जब भारत-वासी जागेंगे और उनमें आर्य-भावका नवोत्थान दृष्टिगत होगा।

गीताका धर्म
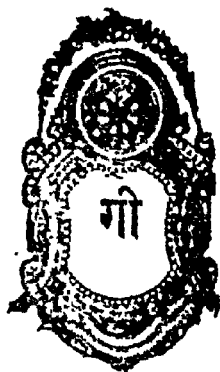
ताको ध्यानपूर्वक पढ़कर उसे हृदयङ्गम करनेवालेके मनमें यह प्रश्न उठ सकता है कि गीतामें भगवान श्रीकृष्णने जो बार बार योग शब्दका व्यवहार और युक्तवस्था का वर्णन किया है और उस योग शब्दका बहुतसे लोग जो अर्थ करते हैं वह अर्थ गीतामें व्यवहार किये गये 'योग' * शब्दपर तो घटित नहीं होता ? भगवान श्रीकृष्णने गीतामें

* बहुत से लोग गीता में व्यवहृत 'योग' शब्द का रूढ़ार्थ "प्राणायाम आदिक साधनों से चित्तकी वृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना" अथवा "पातञ्जल सूत्रोक्त समाधि या ध्यान योग" करते हैं। उपनिषदोंमें भी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु गीताको ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले जानते हैं कि यह अर्थ श्रीमद्भगवद्गीतामें विवक्षित नहीं है। क्योंकि भगवान्‌का यह कदापि अभिप्राय नहीं था कि अर्जुन युद्ध छोड़कर प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेमें लग जायँ। लोकमान्य तिलकमहाराजने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है,—योग शब्द 'युज' धातुसे बना है। इसका अर्थ है, जोड़, मेल, एकत्र-अवस्थिति आदि ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके उपाय, युक्ति या कर्मको भी योग कहते हैं। यह सब अर्थ अमरकोषमें इस तरहसे दिये हुए हैं "योगः संहननोपाय ध्यानसंगतियुक्तिषु"। योग शब्दका अर्थ गीतामें ही इस प्रकार पाया जाता है, "योगः कर्मसु कौशलम्" (गी० २-५०) अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकार की कुशलता या चतुराई अथवा शैलीको 'योग' कहते हैं। शांकर भाष्यमें भी "कर्मसु कौशलम्" का यही अर्थ लिखा है। कर्ममें

जगह जगह संन्यास* की सराहना की है और अनिर्देश्य परब्रह्मकी उपासनामें परमगति भी निर्दिष्ट की है; किन्तु अत्यन्त संक्षेपमें। गीताके अधिक भागमें उन्होंने सांगोपाङ्ग त्याग का महत्व, वासुदेवके ऊपर श्रद्धा और आत्मसमर्पणमें ही परमावस्था या मोक्षकी प्राप्तिके अनेकानेक उपायों द्वारा गांडीव-धनुषधारी अर्जुनको समझाया है। गीताके छठे अध्याय-में राजयोगका किंचित् वर्णन है, किन्तु उससे गीताको राज-योगात्मक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। समता[1], अनासक्ति[2], कर्मफल[3]-त्याग, भगवानमें आत्म-समर्पण, निष्काम कर्म, गुणा-तीत्व[4] और स्वधर्म-सेवा ही गीताका मूल-तत्त्व या सारांश है। भगवानने परमज्ञान और गूढ़तम रहस्यके नामसे गीतामें इसी शिक्षाकी व्याख्या भी की है। हमारा विश्वास तो यह है कि भविष्यमें किसी न किसी दिन गीता ही संसार के भावी

स्वभाव-सिद्ध रहनेवाले बंधनको तोड़नेकी युक्ति"। एकही कर्मको करनेके लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको 'योग' कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करने की जो समत्व बुद्धिरूप विशेष युक्ति है वही 'कौशल' है और इसी कुशलतासे कर्म करनेको गीतामें 'योग' कहा है।

* गीतामें व्यहृत 'संन्यास' शब्दका अर्थ घर-द्वार छोड़कर गेरुवा वस्त्र पहननेका नहीं है, वरन् सारे कार्य्योंको करते हुए आन्तरिक त्याग है। 'संन्यास और त्याग' शीर्षक प्रकरणमें इसकी व्याख्या है।

१—सबको समान समझना। २—किसीमें रत न होना। ३—किसी भी कर्मको फलाशा त्याग वृत्तिसे करना। ४—अपनेको शरीरसे पृथक समझना।

धर्मका सर्वजन-सम्मत शास्त्र होगी। पर अभी सबलोग गीताका प्रकृत अर्थ नहीं जानते। बड़े बड़े पंडित, श्रेष्ठ मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धिवाले सुलेखक भी गीताके गूढ़ार्थसे अनभिज्ञ हैं। एक ओर तो गीताके मोक्ष-परायण व्याख्यान अद्वैतवाद और संन्यास धर्मकी श्रेष्ठता बतला रहे हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य-दर्शनशास्त्रमें कुशल बंकिमचन्द्र गीतामें केवल मात्र वीर-भावसे कर्तव्य-पालनका उपदेश प्राप्तकर वही अर्थ नवयुवकोंको सिखानेकी पूर्ण चेष्टा कर रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि संन्यास-धर्म उत्कृष्ट धर्म है, किन्तु इतना अवश्य है कि इस संन्यास-धर्मका आचरण बहुत ही कम लोग करते हैं। सबके मानने योग्य उत्कृष्ट धर्ममें इस प्रकारके आदर्श और तात्विक शिक्षाका रहना आवश्यक है, जिससे सबलोग अपने जीवन और कर्मक्षेत्रमें उस धर्मका आचरण सरलता-पूर्वक कर सकें। क्योंकि पूर्ण-रीतिसे उसी आदर्शका आचरण करनेपर वे उस परम गीताको प्राप्त कर सकेंगे, जिसके अधिकारी इनेगिने लोग ही होते हैं।

वीर-भावसे कर्तव्य-पालन करना भी अवश्य ही उत्कृष्ट धर्म है; पर कर्त्तव्य क्या है, यही जटिल समस्या लेकर धर्म और नीतिकी सारी विडम्बना है। भगवानने गीतामें अर्जुनसे स्पष्ट कहा है कि 'गहना कर्मणो गतिः'। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या कर्म[1] है, क्या अकर्म[2] है और क्या विकर्म[3]

१—'कर्म'—कर्मका अर्थ केवल क्रिया ही नहीं वरन् क्रियासे होनेवाले

है? इन सब बातोंका निर्णय करनेमें ज्ञानियोंका मस्तिष्क भी चक्कर खाने लगता है; पर हम (श्रीकृष्ण) तुम्हें (अर्जुनको) ऐसी शिक्षा देंगे, जिससे तुम्हें यथार्थ मार्गके निश्चित करनेमें जरासा भी कष्ट न उठाना पड़ेगा। कर्म-जीवनका लक्ष्य और सदा पालन करने योग्य नियम ये दोनों विस्तृत रूपसे एक ही बातमें हम तुमसे कहेंगे। यह ज्ञान क्या है, यह लाख बात की एक बात कहाँ पायी जायगी? हमारा विश्वास है कि गीताके अंतिम अध्याय में जहाँपर भगवानने अपना गुह्याति गुह्य श्रेष्ठ वक्तव्य अर्जुनसे कहा है, वहाँपर ही खोजनेसे यह

शुभ-अशुभ परिणामोंका विचार करके कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चय होता है।

२—'अकर्म'—इसका शाब्दिक अर्थ है 'कर्म न करना'। करनेपर भी जो कर्म बाँधता नहीं अर्थात् जिस कर्ममें बन्धकत्व न हो, वही कर्म अकर्म है। अकर्मका प्रचलित अर्थ कर्म-शून्यता है। मीमांसकों और संन्यास मार्गियोंने इस शब्दका अर्थ करनेमें बड़ी खींचातानी की है। अकर्मका अर्थ कर्म-शून्यता होना असम्भव नहीं क्योंकि सोना, जागना, उठना, बैठना आदि भी कर्म ही है। यदि सृष्टिके मानेही कर्म हैं, तो मनुष्य, सृष्टिमें रहता हुआ कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता। अतः यही निश्चय होता है कि अकर्मका अर्थ सब कर्म छोड़ देना कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म छूट नहीं सकते। गीता के अध्याय १८ में इसका अच्छा विवेचन किया गया है।

३—'विकर्म'—(विपरीत कर्म) मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उनमें से अकर्म (सात्विक कर्म) घटा देने से अवशेष जो कर्म रह जाता है, उसके दो भाग राजस तामस किये जा सकते हैं। इनमेंसे तामस कर्म मोह और अज्ञानसे हुआ करते हैं। इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं। फिर भी यदि कोई कर्म मोहसे छोड़ दिया जाय तो वह भी विकर्म ही है न कि अकर्म।

दुर्लभ और अमूल्य वस्तु पायी जा सकती है। वह सबसे गुह्यतम श्रेष्ठ बात क्या है? यह कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यमि मा शुचः* ॥

इन दोनों श्लोकोंमें एक ही बात पायी जाती है; वह बात है—आत्म-समर्पण। जो लोग जितने ही अधिक परिणाममें श्रीकृष्णके समीप आत्म-समर्पण कर सकते हैं, वे उतने ही अधिक परिणाममें ईश्वर-प्रदत्त शक्ति पाकर परम मंगलमयके प्रसादसे पाप-मुक्त हो देव-भावको प्राप्त करते हैं। उसी आत्म-समर्पणका वर्णन पहले श्लोकार्द्धमें किया हुआ है। आत्म-समर्पण तन्मना, तद्भक्त, तद्याजी होनेसे होता है। तन्मना अर्थात् सब प्राणियोंमें उनका दर्शन करना, हर समयमें उनका स्मरण करते रहना, सब कामों और सब घटनाओंमें उनकी शक्ति, ज्ञान और प्रेमका तमाशा समझकर परमानन्दित रहना। तद्भक्त अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रखकर उनमें

---

* मुझमें अपना मन लगा, मेरा भक्त हो, भजन कर और मेरी वंदना कर। मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि (ऐसा करने से) तू मुझमें ही आ मिलेगा। क्योंकि तू मेरा प्रिय भक्त है।

सब धर्मोंको छोड़कर अर्थात् सब धर्मोंके फलको त्यागकर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा, डर मत।

गीता अ० १८ श्लो० ६५-६६

लीन रहना। तद्यजी अर्थात् अपने छोटे और बड़े सब कामों को श्रीकृष्णके निमित्त अर्पण करना, एवं स्वार्थ और कर्म-फल-की आसक्तिका त्यागकर उनके लिये कर्त्तव्य कर्ममें प्रवृत्त होना। पूर्णरूपसे आत्म-समर्पण करना मनुष्यके लिये कठिन तो अवश्य है, पर थोड़ीसी चेष्टा करनेसे ही स्वयं भगवान अभय-दान देकर उसके गुरु, रक्षक और सुहृद् होकर उसको योग-पथमें अग्रसर कर देते हैं। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' भगवानने कहा है कि, इस धर्मका आचरण करना सहज और आनन्द-दायक है। वास्तवमें यही बात है भी; सब धर्मोंका फल है अनिर्वचनीय आनन्द, शुद्धि और शक्तिकी प्राप्ति। "मामेवैष्यसि" अर्थात् हमें प्राप्त होगा, हमारे साथ वास करेगा, हमारी प्रकृति प्राप्त होगी। इस बातमें सादृश्य सालोक्य और सायुज्यकी फल-प्राप्ति व्यक्त की गयी है। जो लोग गुणातीत हैं, वे ही भगवानके सादृश-प्राप्त हैं। उनकी किसी चीजमें आसक्ति नहीं रहती; इसीसे वे कर्म करते हुए पाप-मुक्त होकर महाशक्तिके आधार होते हैं और उसकी शक्ति-के सब कामोंमें आनन्दित होते हैं। सालोक्य भी देहावसानके पश्चात् केवल ब्रह्मलोकको जाना नहीं है, इस शरीरके रहते हुए भी सालोक्यकी प्राप्ति होती है। शरीरयुक्त जीवका अपने अंतः-करणमें परमात्माके साथ क्रीड़ा करना, मनका एकाग्र होकर ज्ञानमें पुलकित हो उठना, हृदयका प्रेमस्पर्शसे आनन्द-विह्वल हो जाना, बुद्धिका बारबार भगवद्वाणी सुनना तथा प्रत्येक

चिन्तामें उन्हींकी प्रेरणा प्रतीत करना, मानव-शरीरसे भगवानके साथ सालोक्य है।

सायुज्य भी इसी शरीरसे प्राप्त होती है। गीतामें भगवानके साथ निवास करनेकी बात पायी जाती है। जब सब जीवोंमें उनकी यह प्राप्ति स्थायी रूपसे हो जाती है, सब इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वचा उन्हींका क्रमशः दर्शन, श्रवण, आघ्राण, आस्वादन और स्पर्श करती हैं। जीव हमेशा उन्हींमें अंशरूपसे रहकर अंततः विलीन हो जाता है, तब इसी शरीरसे सायुज्य भी मिलती है। बस यही परम गति सम्पूर्ण अनुशीलनका फल है। किन्तु इस धर्मका थोड़ा भी आचरण करनेसे महती शक्ति, विमल आनन्द, पूर्णसुख और शुद्धता लाभ होती है।

यह धर्म विशिष्ट गुणसम्पन्न लोगोंके लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। भगवान्ने कहा है,—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, पापयोनि-प्राप्त सब जीव पर्यन्त उनको इसी अर्थ-द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। घोर पापी भी उनकी शरण लेकर थोड़े ही दिनोंमें पवित्र हो जाते हैं। इसलिये यही धर्म सब लोगोंके मानने योग्य है। जगदीश भगवानके मंदिरमें जाति-विचार नहीं है। किन्तु जगदीश भगवानकी परम-गति किसी भी और दूसरे धर्मनिर्दिष्ट परमावस्थासे कम नहीं है।

संन्यास और त्याग

"गीताका धर्म" शीर्षक प्रबन्धमें कहा जा चुका है कि गीतोक्त धर्म सबके आचरण करने योग्य धर्म है। गीतोक्त यानी गीतामें कथित योगपर सबका अधिकार है एवं उस धर्मकी परमावस्था किसी भी धर्मोक्त परमावस्थाकी अपेक्षा कम नहीं है। गीतामें वर्णित धर्म निष्काम कर्मोका धर्म है। हमारे देशमें आर्य-धर्मके पुनरुत्थानके साथ संन्यासमुखी स्रोत सारे देशमें व्याप्त हो रहा है। राजयोगके अभ्यासी व्यक्तियोंका मन सहज ही गृह-कर्म या गृह-निवाससे संतुष्ट रहना नहीं चाहता, उनके लिये योगाभ्यासमें ध्यान और धारणाओंकी बहु-प्रयत्न-पूर्ण चेष्टा आवश्यक है। थोड़ा भी मनः क्षोभ हो जानेके कारण ध्यान और धारणाकी स्थिरता विचलित हो जाती है या एकदम नष्ट हो जाती है। घरमें इस तरहकी बाधाएँ प्रचुर परिमाणमें मौजूद रहती हैं। अतएव जो लाग पूर्व जन्ममें प्राप्त योगकी इच्छा लेकर जन्म ग्रहण करते हैं, वे युवावस्थामें ही संन्यासकी ओर आकृष्ट होकर स्वाभाविक ही एकान्तवासी हो जाते हैं। जिस समय इस प्रकारके जन्मप्राप्त योगेच्छुकोंकी संख्या अधिक होजानेके कारण उस देशमयी गमन-शक्तिसे तरुण संप्रदायमें संन्यासमुखी

स्रोत प्रबल हो जाता है, उस समय देशके कल्याणमार्गका द्वार खुल जाता है। किन्तु कभी-कभी कल्याणमें विपत्तिकी भी आशंका होती है।

कहा जा चुका है कि संन्यास-धर्म उत्कृष्ट धर्म है, किन्तु उस धर्मके ग्रहण करनेके लिये अधिकारी कुछ इने गिने लोग ही होते हैं, जो लोग विना अधिकार प्राप्त किये ही उस पथमें प्रवेश करते हैं।' वे थोड़ी दूर जाकर बीच मार्गमें तामसिक अप्रवृत्ति-जनक आनन्दसे वशीभूत हो पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में यह जीवन सुखपूर्वक कटता है अवश्य, किन्तु संसारका हित भी साधित नहीं होता, और योगकी ऊपरी सीढ़ीपर उनका चढ़ना भी दुःसाध्य हो जाता है। हमपर जैसी अवस्था आ उपस्थित हुई है, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि रज और सत्व अर्थात् प्रवृत्ति और ज्ञानका उदय करके तमोवर्ज्जन-पूर्वक देश और जातिकी सेवामें जातिकी आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक बल पुनरुज्जीवित करना हमारा प्रधान कर्तव्य है। इस जीर्ण-शीर्ण तमः प्रपीड़ित स्वार्थ-सीमा-बद्ध जातिकी सन्तानोंमें ज्ञानी, शक्तिमान और उदार आर्य्य जाति की पुनः सृष्टि करनी होगी। इस उद्देश्यके साधनार्थ ही बङ्ग-देशमें इतने विशिष्ट योगबल-प्राप्त जीवोंका जन्म होता जा रहा है। यदि ये संन्यासकी मोहनी शक्तिद्वारा खिंचकर अपना धर्म छोड़; ईश्वर-प्रवृत्त कर्मोंका निराकरण करेंगे तो धर्मनाशसे जातिका भी नाश हो जायगा। युवक-संप्रदाय यह जानता है

कि ब्रह्मचर्याश्रमकी शिक्षा भी चरित्र-गठनके समयके लिये निर्दिष्ट है, इस आश्रमकी परवर्ती अवस्था गृहस्थाश्रम-विहित है। जब हम कुलरक्षा और भावी आर्य-जातिके गठनद्वारा पूर्व पुरुषोंके समीप ऋण-मुक्त हो जायँगे, जब सत्कर्म और धन-संचयद्वारा समाजका ऋण एवं ज्ञान, दया, प्रेम और शक्ति वितरणसे संसारका ऋण चुका देंगे, जब भारतमाताके हितार्थ उदार और महत् कर्म सम्पादनसे जगज्जननी संतुष्ट हो जायँगी, तब वानप्रस्थ और संन्यासका आचरण करना दोष-पूर्ण नहीं होगा। अन्यथा वानप्रस्थ और संन्यासका आचरण करनेसे धर्मसंकर और अधर्मकी ही वृद्धि होगी और इसका दोषी हमें ही होना पड़ेगा। हाँ, जो लोग पूर्वजन्ममें ही ऋण-मुक्त होकर इस जन्ममें बाल्यावस्थामें ही संन्यासी हो जायँ, उनकी बात न्यारी है। किन्तु अनधिकारियोंका संन्यास ग्रहण करना सर्वथा निन्दनीय, अहितकर और कष्टदायक है। वैराग्य-बाहुल्य और क्षत्रियोंकी स्वधर्मत्याग-प्रवणतासे महान और उदार बौद्धधर्मने देशका बहुतसा उपकार करते हुए भी अनिष्ट किया था। अन्त में बौद्ध धर्मका अस्तित्व भी भारतवर्षसे सदाके लिये मिट गया। नवीन युगके नूतन धर्ममें ऐसा होना चाहिये कि जिसमें बौद्ध-धर्मकी भाँति इनमें भी दोष न घुस सके।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बारम्बार अर्जुनको संन्यासका आचरण करनेसे क्यों रोका है? उन्होंने संन्यास-धर्मका गुण तो सहर्ष स्वीकार किया है, पर वैराग्य और कृपाके वश अर्जु-

नके बारबार जिज्ञासा करनेपर भी श्रीकृष्णने कर्मपथके आदेश का न माननेकी अनुमति नहीं दी। अर्जुनने जिज्ञासा की कि यदि कर्मसे कामना-रहित योग-युक्त बुद्धि श्रेष्ठ है, तो आप क्यों गुरुजनोंके हत्यारूपी भीषण कर्ममें मुझे प्रवृत्त कर रहे हैं? बहुतोंमें अर्जुनका यह प्रश्न पुनरुत्थापन कर गया है अर्थात् बहुतसे लोग अर्जुनके पक्षमें हैं—यहाँ तक कि कितने ही लोग भगवान श्रीकृष्णको निकृष्ट धर्मोपदेष्टा और कुपथ-प्रवर्त्तक कहनेमें भी संकुचित नहीं हुए। ऊपर श्रीकृष्णने समझाया है कि संन्याससे त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् अपनी इच्छासे भगवानका स्मरण करके निष्कामभावसे अपने धर्मकी सेवा करना ही श्रेष्ठ है। त्यागका अर्थ कामना या इच्छाका त्याग अथवा स्वार्थ-त्याग है। इस त्यागकी शिक्षाके लिये पर्वत अथवा निर्जन स्थानमें आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं; न यह त्याग-शिक्षा इससे प्राप्त ही होती है। त्यागकी शिक्षा तो कर्म-क्षेत्रमें कर्मोंद्वारा ही मिलती है, कर्म ही योग-पथपर चढ़ानेका उपाय है। यह विचित्र लीलामय जगत् जीवोंको आनन्द पहुँचानेके लिये रचा गया है। भगवानका यह उद्देश्य नहीं है कि यह आनन्दमय क्रीड़ा ढोंगियोंका खेल हो अर्थात् अनधिकारी लोग गेरुआ वस्त्र धारण कर संसार मिथ्या है, जीव नित्य है आदि बातें कहकर ढोंग रचें। वे जीवको अपना सखा और खेलका साथी बनाकर संसारमें आनन्दका स्रोत बहाना चाहते हैं। हम जिस अज्ञानान्धकारमें हैं, क्रीड़ाकी सुविधाके लिये वे उससे दूर रहते हैं,—कहने से

ही वह अंधकार घेर सकता है। इनके निर्दिष्ट किये हुए इस प्रकारके बहुतसे उपाय हैं, जिनका अवलम्ब करनेसे अंधकार-से छुटकारा पाकर उनकी सान्निध्य प्राप्ति होती है। जो लोग भगवानकी क्रीड़ासे विरक्त या विश्राम-प्रार्थी होते हैं, उनकी अभिलाषाको वे पूर्ण करते हैं। किन्तु जो लोग उन्हींके लिये उस उपायका अवम्बन करते हैं, उनको भगवान इस लोक या परलोकमें खेलका उपयुक्त साथी बनाते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रियतम सखा और क्रीड़ाके सहचर थे, इसीसे उन्होंने गीताकी गूढ़तम शिक्षा प्राप्त की। वह गूढ़तम शिक्षा "गीता का धर्म" शीर्षक निबंधमें समझानेकी चेष्टा की जा चुकी है। भगवानने अर्जुनसे कहा है कि, कर्म-संन्यास जगत्के पक्षमें अनिष्टकर, एवं त्याग-हीन संन्यास विडम्बना मात्र है। संन्यास-से जो फल प्राप्त होता है, वह फल जगत्से भी प्राप्त होता है, अर्थात् अज्ञानसे मुक्ति, समता, शक्ति-लाभ, आनन्द-प्राप्ति और श्रीकृष्ण-लाभ होता है। लोक-पूज्य व्यक्ति जो कुछ करते हैं— लोकमें उनको आदर्श मानकर लोग उसका आचरण करते हैं, अतएव तुम यदि कर्म-संन्यास करोगे, तो सबलोग उसी पथके पथिक होकर धर्मसंकर और अधर्मका प्रसार करेंगे। तुम कर्मफलकी स्पृहा छोड़कर मनुष्यके साधारण धर्मका आचरण करो और आदर्श स्वरूप होकर सबको अपने अपने कर्मपथमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा करो। ऐसा होनेहीसे तुम हमारा साधर्म्य प्राप्त करोगे और प्रियतम सुहृद हो सकोगे।

तदुपरान्त उन्होंने समझाया है कि कर्मद्वारा उचित मार्गमें आरूढ़ होकर उस मार्गकी शेषावस्थामें शाम अर्थात् सबसे पहले त्याग विहित है। यह भी कर्म-संन्यास नहीं कि अहंकारका नाश करके बहु-प्रयत्न-पूर्ण राजसिक चेष्टा-त्यागद्वारा भगवान-से मिलकर, गुणातीत हो उनकी शक्तिद्वारा चलनेवाले यंत्रकी भाँति कर्म करे। उस अवस्थामें जीवका यह स्थायी ज्ञान होना चाहिये कि, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं भगवानका अंश हूँ; हमारे स्वभाव-रचित इस शरीररूपी कर्म-मय आधार पर भगवानकी शक्ति ही लीलाका कार्य कर रही है। जीव साक्षी और भोक्ता है, प्रकृति कर्त्ता है और परमेश्वर अनुमन्ता है। इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाला मनुष्य शक्तिके किसी भी कार्यारम्भमें कामना रूप साहाय्य अथवा बाधा देनेका इच्छुक नहीं होता। शक्तिके अधीन होकर देह-मन-बुद्धि ईश्वरादिष्ट कार्यमें प्रवृत्त होती है। कुरुक्षेत्रका भीषण हत्याकांड भी यदि भगवानका अनुमत हो एवं स्वधर्म पथमें यदि वही घटे, तो उससे अलिप्त बुद्धि कामना-रहित ज्ञान-प्राप्त जीवका पापसे स्पर्श नहीं होता; किन्तु यह बहुत ही थोड़े लोगोंका लभ्यज्ञान और आदर्श है। यह साधारण धर्म नहीं हो सकता। तो फिर इस साधारण पथके पथिकका कर्त्तव्य-कर्म क्या है? उसको भी यह ज्ञान कितने ही परिमाणोंमें प्राप्त है कि वे यंत्री और मैं यंत्र हूँ। उस ज्ञानके बलसे भगवानको स्मरण करके स्वधर्म-सेवा ही उसके लिये आदिष्ट है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

अपना धर्म स्वभाव नियत कर्म है। कालकी गतिसे स्वभावकी अभिव्यक्ति और परिणति होती है। कालकी गतिसे मनुष्यका जो साधारण स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म युगधर्म है। जातिका कर्मकी गतिसे जो जातीय-स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म जाति-का धर्म है। इसी प्रकार व्यक्तिका कर्मकी गतिसे जो स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म व्यक्तिका धर्म है। येही अनेक तरहके धर्म सनातन धर्मके साधारण आदर्शो द्वारा परस्पर संयुक्त एक दूसरेसे मिले हुए और शृंखलित हैं। साधारण धार्मिकोंके पक्षमें यह धर्म ही स्वधर्म है। ब्रह्मचारी अवस्थामें इस धर्म-सेवाके लिये ज्ञान और शक्ति संचित होती है, गृहस्थाश्रममें यह धर्म अनुष्ठित होता है और इस धर्मके संपूर्ण अनुष्ठानसे वाणप्रस्थ या संन्यासमें अधिकारकी प्राप्ति होती है। यही धर्मकी सनातन गति है।

माया

हमारे पुरातन दार्शनिक-गण जिस समय जगके मूल तत्वोंके अनुसन्धानमें प्रवृत्त हुए, उस समय उन्हें इस प्रपञ्चके मूलमें एक अनश्वर व्यापक वस्तुका अस्तित्व ज्ञात हुआ। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान-वेत्तागण चिरकालके अनुसन्धानसे वाह्य-जगतमें भी इस अनश्वर सर्वव्यापी एकत्वके अस्तित्वके सम्बन्धमें ही कृत-निश्चय हुए हैं। उन्होंने आकाशको ही भौतिक प्रपञ्चका मूल तत्व स्थिर किया है भारतके प्राचीन दार्शनिकोंने भी कई सहस्र वर्ष पहले इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया था कि आकाश ही भौतिक प्रपंचका मूल है, इसीसे और सब भौतिक अवस्थाएँ प्राकृतिक परिणामद्वारा उद्भूत होती हैं। किन्तु वे इसे अंतिम सिद्धान्त समझकर संतुष्ट नहीं हुए। इसीसे वे योग-बलसे सूक्ष्म-जगतमें प्रवेश करके समझ गये कि स्थूल भौतिक प्रपञ्चके पश्चात् एक और सूक्ष्म-प्रपञ्च है, और इस प्रपंचका मूल भौतिक तत्व सूक्ष्म-आकाश है। किन्तु आकाश भी शेष वस्तु नहीं, क्योंकि वे शेष वस्तुको प्रधान कहते थे। प्रकृति या जगन्मयी-क्रिया शक्ति ही परब्रह्मकी सर्वव्यापिनी गतिसे यह प्रधान रचना करके, उससे करोड़ों अणुओंका उत्पादन करती

है और इन अणुओंद्वारा ही सूक्ष्म भूत गठित होता है। प्रकृति या क्रिया-शक्ति अपने लिये कुछ नहीं करती; जिनकी शक्ति है, उन्हींकी तुष्टिके सम्पादनार्थ इस प्रपञ्चकी रचना और अनेक प्रकारकी लीला करती है। आत्मा अथवा पुरुष इस प्रकृतिकी क्रीड़ामें अध्यक्ष और साक्षी हैं। मुख्य मुख्य उपनिषदोंमें आर्य्य-ऋषियोंके तत्वोंकी खोज करनेमें जो सत्यका आविष्कार हुआ था, उसका केन्द्र स्वरूप यह ब्रह्मवाद और पुरुष-प्रकृति-वाद प्रतिष्ठित है। तत्व-दर्शियोंने इस मूल सत्यको लेकर अनेक तरहके तर्कों और वाद-विवादोंसे भिन्न भिन्न चिन्ता-प्रणालियों की सृष्टि की है। जो ब्रह्मवादी थे, वे वेदान्त-दर्शनके प्रवर्त्तक और जो प्रकृति-वादके पक्षपती थे, वे सांख्य दर्शनके प्रचारक हुए। इससे भिन्न लोग परमाणुओंको ही भौतिक प्रपञ्चका मूल तत्व मानकर स्वतंत्र पथके पथिक हुए।

इसप्रकार अनेक प्रकारके पन्थोंका प्रादुर्भूत होनेके पश्चात् भगवान श्रीकृष्णने गीतामें इन सब चिन्ता-प्रणालियोंका सम-न्वय और सामञ्जस्य स्थापन करके व्यासदेवके मुखसे उपनि-षदोंकी सत्यता पुनः प्रवर्त्तित करायी। पुराणके रचयिताओंने भी व्यासदेव-रचित पुराणके आधारपर उस सत्यकी बहुतसी व्याख्या उपन्यास और रूपकच्छलमें साधारण लोगोंके समीप उपस्थित किया।

पर इससे विद्वानोंका वाद-विवाद बन्द नहीं हुआ और वे अपना अपना मत प्रकाशपूर्वक बृहद्रूपसे दर्शन-शास्त्रकी

भिन्न भिन्न शाखाओंके सिद्धान्तोंको अनेक प्रकारके तर्कों-द्वारा प्रतिपन्न करने लगे। हमारे षड्दर्शनों-(छः दर्शनशास्त्र) के आधुनिक स्वरूप उस परवर्त्ती चिन्ताके फल हैं। अंतमें स्वामी शंकराचार्य्यने देशभरमें वेदान्त-प्रचारकी अपूर्व और स्थायी व्यवस्था करके सर्वसाधारणके हृदयों में वेदान्तका आधिपत्य बद्धमूल किया। इसके अतिरिक्त और पाँच दर्शन अल्पसंख्यक विद्वानोंमें प्रतिष्ठित होकर रहे अवश्य, किन्तु उनका आधिपत्य और प्रभाव थोड़े ही दिनों में चिन्ता-जगत से प्रायः लोप-सा हो गया। सर्व-सम्मत वेदान्त-दर्शनमें मतभेद उत्पन्न होकर तीन मुख्य शाखाएँ और बहुतसी गौण शाखाएँ स्थापित हुईं। ज्ञान-प्रधान अद्वैतवाद एवं भक्ति-प्रधान विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवादका विरोध अब भी हिन्दू धर्म्म-में विद्यमान है। ज्ञानमार्गी, भक्तोंके स्वतंत्र-प्रेम और भाव-प्रवणताको उन्माद लक्षण समझ उड़ा देते हैं; भक्त भी ज्ञान मार्गियोंकी तत्व-ज्ञान-स्पृहाको शुष्क तर्क समझकर उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु ये दोनों ही मत भ्रान्त और संकीर्ण हैं। क्योंकि भक्ति-शून्य तत्व-ज्ञानसे अहंकारकी वृद्धि होकर मुक्तिका मार्ग अवरुद्ध होता है और ज्ञान-शून्य भक्ति अंध-विश्वास और भ्रमपूर्ण तामसिकता उत्पन्न करती है। प्रकृत उपनिषद्-दर्शित, धर्म-पथमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका सामञ्जस्य एवं परस्पर सहायता ही रक्षित हुई है।

यदि सर्वव्यापी, सर्वसम्मत आर्य्य-धर्मका प्रचार करना

हो, तो उसको प्रकृत आर्य्य-ज्ञानके ऊपर संस्थापित करना होगा। दर्शन-शास्त्र चिरकालसे एकवर्गी प्रकाशक और असम्पूर्ण हैं। सम्पूर्ण जगत्को तर्कद्वारा संकीर्ण मतका अनुयायी होनेके लिये सीमाबद्ध करते जानेसे सत्यका एक ओर विशद रूपसे कथन तो होगा अवश्य, किन्तु दूसरी ओर अपलाप या झूठका प्रचार ही होगा। अद्वैतवादियोंकी ओरका मायावाद इसी तरहके अपलापका दृष्टान्त है। ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है, बस यही मायावाद का मूल मन्त्र है। यह मन्त्र जिस जातिकी चिन्ता-प्रणालीके मूल-मन्त्रमें प्रतिष्ठित होता है, उसी जातिमें ज्ञानकी इच्छा, वैराग्य और संन्यासप्रियताकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं उससे रजो-शक्ति निर्बल होकर सत्य और तमकी प्रबलता भी होती है। परिणाम यह होता है कि एक ओर तो ज्ञान-प्राप्त संन्यासी, संसारमें तृष्णासे उत्पन्न हुए प्रेम करनेवाले भक्तों और शान्ति-प्रार्थी वैरागियोंकी संख्या-वृद्धि होती है और दूसरी ओर तामसिक, अज्ञ प्रवृत्तिरहित, लीन और अकर्मण्य साधारण प्रजाकी दुर्दशा ही संघटित होती हैं। भारतमें मायावादके प्रचारसे यह घटना ही घट रही है। क्योंकि जगत यदि मिथ्या ही है, तो फिर ज्ञान-तृष्णाके अतिरिक्त और सारी चेष्टाओंका निरर्थक और अनिष्टकर कहना होगा। किन्तु मनुष्यके जीवनमें ज्ञान-तृष्णाके अतिरिक्त और भी ऐसी बहुतसी प्रबल और उपयोगी वृत्तियाँ क्रीड़ा कर रही हैं, जिनकी उपेक्षा करके कोई भी

जाति टिक नहीं सकती। इसी अनर्थके भयसे ही शंकराचार्य्यने पारमार्थिक और व्यावहारिक नामक ज्ञानके दो अंगोंको दिखाकर अधिकार-भेद्से ज्ञान और कर्मकी व्यवस्था की। किन्तु उन्होंने उस युगके क्रिया-पूर्ण कर्म मार्गका तीव्र प्रतिवाद करनेमें विपरीत फल पाया है। शंकरके प्रभाव से वह कर्म्म-मार्ग लुप्तसा हो गया। सब वैदिक क्रियायें लुप्त हो गयीं। किन्तु साधारण लोगोंके मनमें जगत् माया-रचित अर्थात् जगत् मायासे उत्पन्न है, कर्म्म अज्ञानसे उत्पन्न और मुक्तिका विरोधी है, धर्माधर्म ही सुख-दुःखका कारण है इत्यादि—तमः प्रवर्तक मत ऐसे दृढ़-रूपसे टिक गये कि, रजःशक्तिका पुनः प्रकाश होना असंभवसा होगया। आर्य्य-जातिकी रक्षाके लिये भगवानने पुराण और तंत्र-प्रचारसे मायावादका प्रतिरोध किया। जिसमें उन्होंने पुराणोंद्वारा तो उपनिषद्से उत्पन्न आर्य्य-धर्मके बहुतसे अंशोंकी रक्षा की और तंत्र-शक्तिकी उपासनासे मुक्ति और भुक्ति स्वरूप दो प्रकारके फलकी प्राप्तिके निमित्त लोगोंको कर्म्ममें प्रवृत्त किया। प्रायः जिन्होंने जातिके गौरवकी रक्षाके लिये युद्ध किये हैं, जैसे प्रतापसिंह, शिवाजी, प्रतापादित्य, चन्द्राय प्रभृति—प्रायः सभी शक्तिके उपासक अथवा तान्त्रिक योगियोंके शिष्य थे। तमसे उत्पन्न अनर्थको रोकनेके लिये ही गीतामें भगवान श्रीकृष्णने भी कर्म्म-संन्यासका विरोधी उपदेश ही दिया है।

मायावाद सत्यपर स्थित है। उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि, ईश्वर परम मायावी है। वह अपनी मायाद्वारा दृश्य

जगत्की सृष्टि करता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान श्रीकृष्ण-ने कहा है कि, त्रैगुण्यमयी माया ही सारे संसारमें व्याप्त रहती है। एक अनिर्वचनीय ब्रह्म ही जगत्का मूल सत्य है; बाकी उनका समस्त प्रपंच अभिव्यक्ति मात्र हैं, जोकि स्वयं परिणामशील और नश्वर है। यदि ब्रह्म एक है तो यह भेद और बहुत्व कहाँसे उत्पन्न हुआ, यदि ब्रह्म सनातन है, तो वह किसमें प्रतिष्ठित है, यदि ब्रह्म सत्य है, तो वह किस तरह उत्पन्न हुआ, ये प्रश्न अनिवार्य हैं। ब्रह्म यदि एकमात्र सत्य है तो ब्रह्मसे ही भेद और बहुत्वकी उत्पत्ति है। ब्रह्ममें प्रतिष्ठित ब्रह्मकी किसी अनिर्वचनीय शक्तिद्वारा ये सब उत्पन्न हुए हैं, यही उपनिषदोंका उत्तर है। उस शक्तिको कहीं तो मायावी-की माया कहीं पुरुष अधिष्ठित प्रकृति और कहीं ईश्वरकी विद्या अविद्यामयी इच्छा-शक्ति कहा गया है। किन्तु इससे तार्किकोंके मनका संदेह दूर नहीं हो सकता; किस तरह एक-से बहु और अभेदसे भेद उत्पन्न हुआ, इसकी संतोष-जनक व्याख्या नहीं की जा सकी। फलतः एक उत्तर सहज ही मनमें उदय होता है कि जो एक है वह बहु नहीं हो सकता और सनातन अभेदसे भेद उत्पन्न नहीं हो सकता, बहु मिथ्या है, अभेद सत्य है और सनातन अद्वितीय आत्मामें स्वप्नवत् भास-मान मायामात्र है; आत्मा ही सत्य और सनातन है।

पर इससे भी एक सन्देह बना ही रह गया कि 'माया' क्या है और यह कहाँसे उत्पन्न होती है, किसमें प्रतिष्ठित

रहती है और किस तरह उत्पन्न होती है ? श्रीमच्छंकराचार्य-ने इसका उत्तर दिया है कि माया क्या है, सो नहीं कहा जा सकता; माया अनिर्वचनीय अर्थात् वाणीसे परे है। यह माया उत्पन्न नहीं होती, यह चिरकालसे है और नहीं भी है। पर इससे भी संतोष-जनक उत्तर न मिलनेके कारण भ्रम दूर नहीं होता। इस तर्कसे एक अद्वितीय ब्रह्ममें एक और सनातन अनिर्वच-नीय वस्तु स्थापित तो हुई, पर एकत्वकी रक्षा नहीं हुई।

शंकरकी युक्तियोंसे उपनिषदोंकी युक्तियाँ उत्कृष्ट हैं। भगवान-की प्रकृति जगत्का मूल है और उसी प्रकृतिका नाम शक्ति—सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्द अर्थात् सत्, चित्, आनन्द-मयी शक्ति है। आत्माके लिये भगवान परमात्मा और जगत्के लिये वे परमेश्वर हैं। परमेश्वरकी इच्छा शक्तिमयी है। उस इच्छा-द्वारा ही एकसे बहु और अभेदसे भेद उत्पन्न होता है। पर-मार्थकी दृष्टिसे ब्रह्म सत्य और मायासे उत्पन्न जगत् मिथ्या है, कारण यह है कि जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है और फिर उसीमें विलीन हो जाता है। देशकालमें ही प्रपञ्चका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व ब्रह्मकी देशकालातीत अर्थात् 'देशकालसे न्यारेकी अवस्थामें नहीं है। ब्रह्ममें प्रपञ्च-युक्त देशकाल है, किन्तु ब्रह्म देशकालमें आबद्ध नहीं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न, ब्रह्ममें ही वर्त्तमान है; सनातन अनिर्देश्य ब्रह्ममें नाशवान् जगतकी स्था-पना है और वहीं ब्रह्मकी विद्या अविद्यामयी शक्तिसे उत्पन्न जगत् विराजमान भी रहता है। जिस प्रकार मनुष्यमें प्रकृत

सत्य प्राप्त करनेकी शक्ति और व्यतीत कल्पनाद्वारा मिथ्या वस्तु प्राप्त करनेकी शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी विद्या और अविद्या, सत्य और मिथ्या है। तो फिर अनृत यानी मिथ्या देशकालसे उत्पन्न है। जिस प्रकार मनुष्यकी कल्पना देशकालके अनुसार सत्यमें परिणत होती है, उसीप्रकार जिसे हम अनृत कहते हैं, वह भी सर्वथा अनृत नहीं, सत्यका विलोम मात्र है। वस्तुत: देखा जाय तो 'सर्व सत्यं' अर्थात् सब सत्य है, झूठ कुछ भी नहीं है। हाँ, देशकालसे न्यारेकी अवस्थामें जगत् मिथ्या है अवश्य, किन्तु हम देशकालसे न्यारे नहीं हैं। अत: हम जगत्को मिथ्या कहनेके अधिकारी कदापि नहीं। क्योंकि देशकालमें जगत् मिथ्या नहीं वरन् सत्य है। जब देशकालसे न्यारे होकर ब्रह्ममें विलीन होनेका समय आवेगा और हममें वैसी शक्ति उत्पन्न हो जायगी; तब हम जगतको मिथ्या कह सकेंगे और तभी जगत्को मिथ्या कहनेका अधिकार ईश्वर प्रदत्त समझा जायगा। अनधिकारीके यह कहनेसे कि जगत् मिथ्या है; मिथ्याचारकी वृद्धि और धर्मका पतन ही होता है। हमारे लिये तो ब्रह्मको सत्य और जगत्को मिथ्या कहनेकी अपेक्षा ब्रह्मको सत्य और जगत्को ब्रह्म कहना, अधिक उचित और हितकर है। यही उपनिषदोंका भी उपदेश है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' बस इसी सत्यपर आर्यधर्म स्थित है।

—

अहंकार

मारी भाषामें 'अहंकार' शब्द का ऐसा विकृत अर्थ हो गया है कि आर्य-धर्मके प्रधान तर्कोंको समझा देने पर भी चिरकालसे भ्रम बना ही हुआ है। गर्व, राजसिक अहंकारका एक विशेष परिणाम मात्र है, किन्तु साधारणतः अहंकार शब्दका यही अर्थ समझा जाता है कि अहंकारको छोड़नेकी बात कहनेसे गर्व या घमण्ड परित्याग वा राजसिक अहंकारके निषेधका अर्थ ही हृदयमें बोध होता है। पर वस्तुतः अहंपन ही अहंकार है। अहं बुद्धि मनुष्यकी विज्ञानमयी आत्मामें उत्पन्न होती एवं प्रकृतिके अन्तर्गत तीन गुणोंकी क्रीड़ामें उसकी तीन प्रकारकी वृत्तियाँ (सात्विक अहंकार, राजसिक और तामसिक अहंकार) विकसित होती हैं। सात्विक अहंकार ज्ञान और सुख-प्रधान है। हमें ज्ञान प्राप्त हो रहा है, हमें आनन्द हो रहा है, येही सब भाव सात्विक अहंकारकी क्रियायें हैं। साधक अहं, भक्तका अहं, ज्ञानीका अहं और निष्काम कर्मीका अहं, सत्वप्रधान, ज्ञान-प्रधान और सुख-प्रधान है। राजसिक अहंकार कर्म-प्रधान है। मैं कर्म कर रहा हूँ, कार्य्यकी सफलता और असफलता सब मेरी ही है, मैं

बलवान हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, आदि भाव रजोगुणी-वृत्ति-प्रधान, कर्मप्रधान और प्रवृत्ति-जनक हैं। तामसिक अहंकार जड़ता और निरुत्साहवाले पूर्ण हैं। मैं अधम हूँ, मैं निरुपाय हूँ, मैं आलसी हूँ, मैं अबल हूँ, मैं हीन हूँ, मुझे कुछ भी आशा भरोसा नहीं है, मैं प्रकृतिमें लीन हो रहा हूँ, लीन होना ही मेरी गति है आदि सब भाव तमो-प्रधान अप्रवृत्ति और अन्ध-कार-जनक हैं। जो लोग तामसिक अहंकारमें दृढ़ हैं, उनका गर्व नहीं वरन् पूर्ण भावमें अहंकार है; किन्तु वह अहंकार अधोगति, नाश और शून्य-ब्रह्म-प्राप्तिका कारण है। जिस प्रकार गर्वका अहंकार होता है, उसी प्रकार नम्रताका अहंकार भी होता है। जिस प्रकार बलका अहंकार होता है, उसी प्रकार निर्बलताका भी अहंकार होता है।

जो लोग तामसिक भावमें गर्व-रहित हैं, वे अधम, निर्बल, भय और निराशावाले पद-दलित (कुचिले गिरे हुए) हैं। तामसिक नम्रता, तामसिक क्षमता और तामसिक सहिष्णुता-का कुछ भी मूल्य नहीं और न कोई सुंदर परिणाम ही है। जो सब जगह नारायणको जानकर सबके समीप नम्र, सहिष्णु और क्षमावान होकर रहता है, उसीको सुख होता है और वही सच्चा पुण्यवान भी है। जो इन सब अहंमन्य वृत्तियोंका परित्याग करके त्रैगुण्यमयी भावोंका अतिक्रम करता है, उसका न तो गर्व ही है और न नम्रता ही; परमात्माकी ज्ञान-मयी शक्ति उसके मन-प्राणों-रूपी आधारसे जो भाव प्रदान

करती है उसे वह लेकर संतुष्ट, अनासक्त, अटल शान्ति और आनन्दको प्राप्त हो सकता है। तामसिक अहंकार सदा त्याज्य है। राजसिक अहंकारको जागृत करके सत्वोत्पन्न ज्ञानकी सहायतासे उसे निर्मूल करना उन्नतिका प्रथम सोपान या सीढ़ी है। राजसिक अहंकारके हाथसे मुक्तिके उपाय ज्ञान, श्रद्धा और भक्तिका विकास होता है। सतोगुणी मनुष्य यह नहीं कहता कि मैं सुखी हूँ, वह कहता है कि मेरे प्राणमें सुखका विकास हो रहा है; वह नहीं कहता कि मैं ज्ञानी हूँ, बल्कि वह यह कहता है कि मुझमें ज्ञानका संचार हो रहा है; वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि यह सुख और ज्ञान मेरा नहीं वरन् जगन्माताका है।

पर सब तरहके अनुभवके साथ जब आनन्दके सम्भोगके लिये लीनता होती है, तब उस ज्ञानी अथवा भक्त का भाव अहं-युक्त हो जाता है। 'मेरा तेरा' जब तक कहा जाता है, तब तक अहं-बुद्धिका परित्याग नहीं हुआ करता और अहं-बुद्धि बनी रहती है। गुणातीत यानी शरीरसे न्यारे रहनेवाला व्यक्ति ही पूर्णरूपसे अहंकारपर विजय प्राप्त करता है वह जानता है कि जीव साक्षी और भोक्ता है, पुरुष परमात्मा अनुमन्ता है और प्रकृति कर्त्ता है। इसमें "मैं" नहीं है, सभी एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, की विद्या-अविद्यामयी शक्तिकी लीला है। अहं ज्ञान जीव अधिष्ठित प्रकृतिमें मायासे उत्पन्न एक प्रकारका भाव मात्र है। इस अहंज्ञानसे रहित भावकी अंतिम अवस्था सच्चिदानन्दमें विलीन

होना है। किन्तु जो लोग गुणातीत होकर भी पुरुषोत्तमकी इच्छा और लीलामें अवस्थान करते हैं, वे पुरुषोत्तम और जीवनकी स्वतंत्र अस्तित्व-रक्षा करके अपनेको प्रकृति-विशिष्ट परमात्माका अंश समझ लीलाका कार्य्यसम्पन्न करते हैं। इस भावको अहंकार नहीं कहा जा सकता। यही भाव परमेश्वरका भी हैं। उनमें अज्ञान और लिप्तता नहीं है, किन्तु आनन्दमय अवस्था स्वस्थ न होकर जगन्मुखी होती है जिनका यह भाव हो, वे ही जीवन्मुक्त* हैं। लयरूप मुक्ति देहक्षीणताके बाद प्राप्त की जाती है; इस मुक्तिका दूसरा नाम 'विदेह मुक्ति' है। जीवन्मुक्त दशा शरीरके रहते ही प्राप्त हो जाती है।

* मुक्त दो तरहके होते हैं। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त।

निवृत्ति

हमारे देशमें धर्मकी कहीं भी संकीर्ण और जीवनके महत् कर्मकी विरोधी व्याख्या मनीषिगणों यानी ऋषियों या पण्डितोंने नहीं की है। सारा जीवन ही धर्मक्षेत्र है; हिन्दुओंके ज्ञान और शिक्षाके मूलमें यह महत् और गम्भीर तत्व पाया जाता है। पाश्चात्य देशोंकी शिक्षाके स्पर्शसे कलुषित होकर हमारे ज्ञान और शिक्षाकी टेढ़ी और अस्वाभाविक अवस्था हो गयी है। हमलोग प्रायः ही इस भ्रान्त धारणाके वशीभूत हो जाते हैं, कि संन्यास, भक्ति और सात्विक भावसे भिन्न और कुछ भी धर्म-का अंग नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वान इन संकीर्ण धारणा को लेकर धर्मालोचन करते हैं। हिंदूलोग धर्म और अधर्म इन दो भागोंमें जीवनके जितने काम हैं, सबको विभक्त करते हैं, और पाश्चात्य जगत्में धर्म-अधर्म और धर्माधर्म के वहिर्भूत जीवनकी अधिकांश क्रियाओं और वृत्तियोंका अनुशीलन ये तीन भाग किये गये हैं। भगवानकी प्रशंसा, प्रार्थना, संकीर्त्तन और गिर्जेमें पादरियोंकी वक्तृताओंके सुनने आदि कर्मोंको धर्म या Religion कहते हैं। Morality या सत्कार्य धर्मका अंग नहीं, वह स्वतन्त्र है। इसीसे बहुतसे लोग Religion (धर्म) और Morality (सत्कार्य) इन्हीं दोनोंको धर्मका गौण अङ्ग समझकर स्वीकार भी करते हैं। गिर्जेमें न जाना नास्तिकवाद या संशयवाद एवं Religion की निन्दा अथवा उसके सम्बन्धमें उदासीनताके भावोंको अधर्म Irreligion कहते हैं और कुकार्य

को Immorality कहते हैं। पूर्वोक्त मतानुसार यह भी अधर्मका एक अङ्गही है; किन्तु अधिकांश कर्म और वृत्तियाँ धर्माधर्मके बाहर हैं।

Religion and Life, धर्म और कर्म स्वतंत्र हैं। हम-लोगोंमें बहुतसे लोग धर्म शब्दका खूब ही टेढ़ामेढ़ा अर्थ करते हैं। साधु संन्यासियोंकी बातों, भगवानकी बातों, देवी देवताओं-की बातों और संसार-वर्ज्जनकी बातोंको वे धर्मके नामसे पुकारा करते हैं; किन्तु और कोई प्रसंग खड़ा करने पर वे कहते हैं कि यह तो सांसारिक बात है; धर्मकी बात नहीं। वे लोग इन्हीं बातोंके करनेमें अपने धर्मकी रक्षा समझते हैं। उनके मनमें पाश्चात्य Religion (धर्म) का भाव सन्निविष्ट हो गया है; धर्म शब्द सुनते ही Religion की परिभाषा उनके मनमें उदय हो जाती है। इसका कारण अनभिज्ञता है। अपनी अनभिज्ञता से ही वे लोग इस अर्थमें धर्म शब्दका व्यवहार करते हैं।

किन्तु हमारे देशकी बातोंमें इस तरहके विदेशी भावोंका प्रवेश होनेसे हमारा उदार सनातन आर्यभाव और शिक्षा नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। सारा जीवन धर्मक्षेत्र है और संसार भी धर्म है। केवल आध्यात्मिक ज्ञानकी आलोचना और भक्तिका भाव ही धर्म नहीं; कर्म भी धर्म है। हमारे सारे साहित्यमें यही उच्चशिक्षा अति प्राचीनकालसे सनातनभावसे व्याप्त हो रही है कि-'एष धर्मः सनातनः'।

बहुतोंकी धारणा है कि कर्म निश्चय ही धर्मके अङ्ग हैं;

किन्तु इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि सब तरहके कर्म धर्मके अङ्ग नहीं; केवल जो सात्विक भावापन्न और निवृत्तिके अनुकूल कर्म हैं, वे ही इस नामके अधिकारी हैं। पर यह भी भ्रान्त धारणा है। जिस प्रकार सात्विक कर्म, धर्म है, उसी प्रकार राजसिक कर्म भी धर्म है, जिस प्रकार जीवोंपर दया करना धर्म है, उसी प्रकार धर्म-युद्धमें देशके शत्रुओंका हनन या बध करना भी धर्म है, जिस प्रकार परोपकारके लिये अपने सुख, धन और प्राण तकको जलांजलि देदेना धर्म है, उसी प्रकार धर्मका साधन स्वरूप शरीरकी उचित रूपसे पूर्णरक्षा करना भी धर्म है। राजनीतिभी धर्म है; काव्य-रचनाभी धर्म है, चित्रकारी भी धर्म है; मधुर गानसे दूसरोंको मनोरञ्जित करना भी धर्म है। जिस कार्यमें स्वार्थ न हो और दूसरोंका हित हो वही धर्म है,—चाहे वह कर्म बड़ा हो अथवा छोटा। जब हम छोटे और बड़े का हिसाब करके देखते हैं, तब पता चलता है कि भगवानके समीप छोटे और बड़ेका भेद बिलकुल ही नहीं है, किसी भाव-से मनुष्य जो कुछ अपने स्वभावानुसार अथवा अदृष्टदत्त कर्मका आचरण करता है, उसे भगवान अच्छी तरह देख लेते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता। कर्म करना, उसे भगवान हीके चरणोंमें अर्पण करना, यह समझकर करना और उन्हींकी प्रकृतिद्वारा किया हुआ समझकर समभावसे स्वीकार करना ही उच्चधर्म और श्रेष्ठधर्म है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।*

---

* ईशावास्योपनिषदका प्रारम्भिक मंत्र है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं ॥
कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

अभिप्राय यह कि जो कुछ देखे, जो कुछ करे, जो कुछ चिन्तन करे, सभी भगवानमय समझना चाहिये। यह जगत् भगवानमय है; इस प्रकार घिरा हुआ है जिस प्रकार वस्त्रसे कोई वस्तु ढँकी हो। वह पर्दा पाप और अधर्मद्वारा नहीं हटाया जा सकता। मनमें सब कर्मोंकी वासना और आसक्ति त्याग करके तथा कामना-रहित होकर कर्मके स्रोतमें जो कुछ प्राप्त हो, उसका ही भोग करना, सारे कर्मोंको करते रहना, शरीरकी रक्षा करना, बस यही भगवानका प्रिय आचरण करना एवं श्रेष्ठ धर्म है। यही प्रकृत निवृत्ति भी है। बुद्धि ही निवृत्तिका स्थान है, प्राणों* और इंद्रियोंमें तो प्रवृत्तिका क्षेत्र है। बुद्धिका प्रवृत्तिद्वारा कृतस्पर्श होनेसे ही सारी झंझटें उपस्थित होती हैं। बुद्धि निर्लिप्तावस्थामें साक्षी और भगवानका Prophet (पैग़म्बर या भविष्य-वक्ता) या Spokesman (प्रतिनिधि) होकर रहेगी, निष्काम होकर उनकी अनुमोदित प्रेरणा, प्राण और इंद्रियोंको ज्ञान करा देगी, और उसीके अनुसार प्राण और इन्द्रियाँ अपना अपना काम करेंगी। कर्मोंका त्याग करना अत्यन्त क्षुद्रता है, कामनाओंका त्याग करना ही प्रकृत त्याग करना है। शरीरकी निवृत्ति निवृत्ति नहीं; बुद्धिकी निर्लिप्तता ही प्रकृत निवृत्ति है।

---

* प्राण पांच हैं; प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

उपनिषद्

हमारा धर्म बहुत विशाल और अनेक तरहकी शाखाप्रशाखाओंसे सुशोभित है। उसका मूल गम्भीरतम ज्ञान आरूढ़ है, और उसकी सब शाखाएँ कर्मोंके बहुत दूर प्रान्त तक फैली हुई हैं। जिस प्रकार गीताका अशोक वृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' और 'अधःशाखम्' उसी प्रकार यह धर्म ज्ञानद्वारा संस्थित कर्म-प्रेरक है। निवृत्ति इसकी भित्ति, प्रवृत्ति इसका गृह, छत और दीवारें तथा मुक्ति ही इसकी चूड़ा है। मानव-जातिका सारा जीवन इस विशाल हिन्दू धर्म-वृक्षके ही सहारे है।

सब लोग समझते हैं कि वेद हिंदूधर्म द्वारा स्थापित हुआ है। किंतु बहुत ही थोड़ेसे लोगोंको ही उसकी स्थापना और भीतरी भेदका पूरा हाल मालूम है। प्रायः शाखाके अगले भागमें ही टिककर हम दो एक सुस्वादु नश्वर फलका आस्वाद प्राप्त करते हैं, मूलकी कुछ भी खोज नहीं करते। हमने यह तो अवश्य सुना है कि, वेदके दो भाग हैं; एकका नाम तो है कर्म-कांड और दूसरेका ज्ञान-कांड है। किन्तु वास्तवमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकांड हैं क्या, सो हम नहीं जानते। हमने मेक्समूलर-कृत ऋग्वेदकी व्याख्याका भलीभाँति अध्ययन किया है;

रमेशचंद्रका किया हुआ बँगला अनुवाद भी पढ़नेसे हम वंचित नहीं हैं; किन्तु ऋग्वेद क्या है, सो नहीं जानते। मेक्समूलर और रमेशचंद्र दत्त महाशयके ग्रन्थोंसे हमने यही ज्ञान प्राप्त किया है कि, ऋग्वेदके ऋषिलोग प्रकृतिके बाहरी पदार्थों अथवा सर्वभूतोंकी पूजा करते थे। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादिका स्तव-स्तोत्र ही सनातन हिन्दू-धर्मका अनादि अनन्त और अपौरुषेय मूल ज्ञान हैं। हम इसीपर विश्वास-कर वेदोंका, ऋषियोंका और हिन्दू धर्मका अनादर करके अपने मनमें समझते हैं कि हम बड़े ही विद्वान और बड़े ही "आलोक प्राप्त" हैं। असली वेदमें ठीक ठीक क्या है, अथवा शंकराचार्य प्रभृति महाज्ञानी और महापुरुषलोग इन स्तव-स्तोत्रोंको क्यों अनादि, अनन्त और सम्पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान समझते थे, उसकी ही हम कुछ खोज नहीं करते।

और बातें तो दूर रहीं, उपनिषद् क्या है, इसे ही हम लोगोंमेंसे बहुत ही थोड़े लोग जानते हैं। उपनिषदोंका प्रसंग चलने पर हमें प्रायः ही शंकराचार्यके अद्वैतवाद, रामानुजा-चार्यके विशिष्टाद्वैतवाद और मध्वके द्वैतवाद आदि दार्शनिक व्याख्याताओंकी बातें याद आ जाती हैं। असली उपनिषदोंमें क्या बातें हैं, उनका स्वाभाविक अर्थ क्या है, किस प्रकार पर-स्पर विरोधी छहो दर्शन उस एक मूलसे उत्पन्न हुए हैं, षड्-दर्शनोंसे पृथक कौनसा गूढ़ अर्थ उस ज्ञान-भण्डारमें प्राप्त हो सकता है, इन सब बातोंका चिन्तन तक हमलोग कभी नहीं

करते। शंकराचार्य जो अर्थ कर गये हैं; हजारों वर्षोंसे हम उसी अर्थको ग्रहण करते चले आ रहे हैं। शंकराचार्यकी व्याख्याको ही हम अपना वेद अपना उपनिषद् मान रहे हैं; कष्ट करके असली उपनिषदोंको कौन पढ़ता है? यदि पढ़ते भी हैं तो अपनी यथार्थ बुद्धिसे नहीं वरन् अन्धभक्ति करके पढ़ते समय शंकराचार्यके विरोधकी कोई भी व्याख्या देखते ही हम उसे भूल कहकर उसका खंडन कर देते हैं, तनिक भी अपनी बुद्धिसे विचार नहीं करते कि यहाँपर वास्तविक बात क्या है। पर स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषदोंमें केवल शंकर-लब्ध ज्ञान नहीं है वरन् भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें जो आध्यात्मिक ज्ञान अथवा तत्वज्ञान लब्ध अर्थात् प्राप्त हुआ है अथवा होगा, उन सभोंको आर्यर्षियों और महायोगियोंने अत्यन्त संक्षेपमें निगूढ़ अर्थ-प्रकाशक श्लोकोंमें व्यक्तकर दिये हैं।

उपनिषद् क्या है? कि अनादि, अनन्त गम्भीरतम ज्ञानमें सनातन-धर्म आरूढ़मूल है, उस ज्ञानका भाण्डार ही उपनिषद् है। वह ज्ञान चारों वेदोंके सूक्तांशोंमें* पाया जाता है, किन्तु वह उपमाच्छलमें स्तोत्रके बाहरी अर्थोंद्वारा इस प्रकार आच्छादित है; जिस प्रकार आदर्शमें मनुष्यकी प्रतिमूर्ति। उपनिषद् अनाच्छन्न परमज्ञान है और असलमें मनुष्यका अनावृत्त यानी आकार रहित अवयश अर्थात् अंग है। ऋग्वेदके वक्ता महर्षियोंने ऐश्वरिक प्रेरणासे आध्यात्मिकज्ञानको शब्दों और छन्दों

* वेदोक्त स्तोत्र मंत्रादिको सूक्त कहते हैं।

में प्रकट किया था। फिर उपनिषद्के ऋषियोंने प्रत्यक्ष दर्शनसे उस ज्ञानका स्वरूप देखकर थोड़े और गम्भीर शब्दोंमें उसी ज्ञानको व्यक्त कर दिया। अद्वैतवाद आदि ही क्यों, उसमें जितने दार्शनिक चिन्तन और वाद भारत; यूरोप और एशिया में उत्पन्न हुए हैं, Nominalism (नोमिनलिज़्म) Realism (रीयलिज्म) शून्यवाद, डारविनका क्रमविकाश, कमटका Positivism (पॉज़िटिविज्म) हेगेल, काण्ट, स्पिनोज़ा और सोपनहाका, Utilitarianism (युटीलिटरियनिज्म) Hedonism (हेडोनिज्म) सभी उपनिषद् रचयिता महर्षियोंके सद्यात् दर्शनसे दृष्ट और व्यक्त हुए हैं। किन्तु जो दूसरे स्थलपर खंड-रूपसे या थोड़े अंशोंमें दृष्ट हैं, सत्यका अंशमात्र होते हुए भी सम्पूर्ण सत्यके नामसे प्रचारित हैं, तथा सत्य और मिथ्याको मिलाकर उलटे ढंगसे वर्णित हैं, वेही उपनिषदोंमें विस्तृत रूपसे, अपने प्रकृत सम्बन्धमें आबद्ध होकर, शुद्ध निर्भ्रान्त भावसे लिपि-बद्ध हैं। अतएव शंकरजी की व्याख्यामें अथवा और किसीकी भी व्याख्यामें सीमा-बद्ध न होकर उपनिषदोंके असली गम्भीर और अखंड अर्थको ग्रहण करनेमें तत्पर होना ही उचित है और तभी उपनिषद्का वास्तविक अर्थ भी जाना जा सकेगा।

उपनिषद्का अर्थ है गूढ़, स्थानोंमें प्रवेश करना। ऋषियोंने तर्कके बलसे, विद्याके प्रचारसे किंवा प्रेरणाके प्रवाहसे उपनिषदोंमें वर्णित ज्ञान प्राप्त नहीं किया था, वरन् वे योग-

द्वारा जिस गूढ़ स्थानमें समूचे ज्ञानकी-कुंजी मनके विनीत कक्षमें झूलती रहती है, उसके पूर्ण अधिकारी होकर उस कक्ष में प्रवेश करके उस कुंजीको प्राप्तकर अपने अभ्रान्त ज्ञानद्वारा सुविशाल राज्यके राजा हुए थे। वह कुंजी प्राप्त हुए बिना उप-निषदोंका असली अर्थ नहीं खुलता केवल तर्कके बलसे उप-निषदोंका अर्थ करना और सघन वनमें ऊँचे ऊँचे वृक्षोंके नीचे साधारण दीपकके उजालेमें निरीक्षण करना एकसा ही है। साक्षात् दर्शन ही सूर्यलोक है, जिसके द्वारा सारा वन आलो-कित होकर ढूँढ़नेवालेको दिखायी पड़ता है; वह साक्षात् दर्शन योगद्वारा ही प्राप्त होता है।

पुराण

पिछले निबंधमें उपनिषद्का वर्णन एवं उसके असली और संपूर्ण अर्थके जाननेकी शैलीका उल्लेख किया जा चुका है। जिस प्रकार उपनिषद् हिन्दू-धर्मके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उसी प्रकार पुराण भी हिन्दू-धर्मके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं; श्रुति जिस प्रकार प्रामाणिक है, स्मृति भी उसी प्रकार प्रामाणिक है; किन्तु एक समान नहीं। यदि श्रुति और प्रत्यक्ष प्रमाणके साथ स्मृतिका विरोध हो जाय तो स्मृतिका प्रमाण कदापि ग्रहण करनेके योग्य नहीं हो सकता। योग-सिद्ध महर्षियोंके दिव्य-दृष्टिद्वारा दर्शन करनेके बाद अन्तर्यामी जगद्गुरुने उनकी विशुद्ध बुद्धिको जो कुछ श्रवण कराया, उसीका नाम श्रुति हुआ। प्राचीन ज्ञान और विद्या, जो पुरुष-परम्परामें रक्षित होती आ रही है, उसीका नाम स्मृति है। शेषोक्त ज्ञान बहुतोंके मुख और बहुतोंके मनमें परिवर्त्तित और टेढ़ा होता आ सकता है, अवस्थानुसार नये नये मत और प्रयोजनके अनुकूल नया आकार या स्वरूप धारण करता आ सकता है; अतएव स्मृति श्रुतिके समान अभ्रान्त नहीं कही जा सकती। स्मृति अपौरुषेय नहीं, वरन् मनुष्यके सीमाबद्ध परिवर्त्तनशील मत और बुद्धिकी सृष्टि है।

पुराण स्मृतियोंमें प्रधान हैं। उपनिषदोंके आध्यात्मिक तत्व पुराणोंमें उपन्यास और रूपक के रूपमें परिणत हुए हैं।

पुराणोंमें भारतका इतिहास, हिन्दू-धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि और अभिव्यक्ति, प्राचीन कालकी सामाजिक अवस्था, आचार पूजा, योग-साधन और चिन्तन करनेकी शैलीके सम्बन्धकी बहुतसी आवश्यक बातें पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और जान लेने योग्य है कि पुराण-रचयिता प्रायः सभी सिद्ध हुए हैं न कि साधक; उनका ज्ञान और साधन प्राप्त फल दोनों ही उनके रचित पुराणोंमें लिपि-बद्ध हो रहे हैं। वेद और उपनिषद् हिन्दू-धर्मके असली ग्रन्थ हैं और सब पुराण उन ग्रन्थोंकी व्याख्याएँ हैं। व्याख्या असली ग्रन्थके समान नहीं हो सकती। क्योंकि एक आदमी जो व्याख्या करे, दूसरा आदमी वह व्याख्या नहीं भी कर सकता। किन्तु मूल ग्रन्थमें उलटफेर करने या उसको अग्राह्य करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। जो कथन वेद और उपनिषदोंके समान न मिले, वह हिंदूधर्म का अंग समझकर ग्रहण करनेके योग्य कदापि नहीं हो सकता। किन्तु जो कथन पुराणोंके साथ न मिले, उसका नवीन चिन्ता-द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होना सम्भव है। व्याख्याका मूल्य, व्याख्याताकी मेधाशक्ति, ज्ञान और विद्याके ऊपर निर्भर है। जैसे, व्यासदेवका बनाया हुआ पुराण यदि विद्यमान होता, तो उसका आदर प्रायः श्रुतिके समान ही होता; उसके और लोम-हर्षण-रचित पुराणोंके अभावमें जो अठारह पुराण विद्यमान हैं, उनमें सब पुराणोंका समान आदर न करके विष्णु और भागवत पुराणके समान योग-सिद्ध व्यक्तिकी रचनाको अधिक

मूल्यवान कहना पड़ता है। मार्कण्डेय पुराणके समान पंडित अध्यात्म-विद्या-परायण लेखककी रचनाको शिव या अग्नि पुराणकी अपेक्षा अधिक गम्भीर ज्ञान-पूर्ण समझना पड़ता है। अतः जब कि व्यासदेवका पुराण आधुनिक पुराणोंमें आदि ग्रन्थ है, और इन सबमें जो निकृष्ट है, उससे भी हिन्दू धर्मके तत्वको प्रकट करनेवाली बहुतसी बातें निश्चित रूपसे पायी जाती हैं, एवं जब कि निकृष्ट पुराण भी जिज्ञासु या भक्त योगाभ्यासमें लीन रहनेवाले साधककी रचनाएँ हैं, तब रचयिताका अपने प्रयासद्वारा प्राप्त ज्ञान और चिन्ता भी आदरणीय है।

वेदों और उपनिषदोंसे पुराणोंको स्वतंत्र करके वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म कहकर अंग्रेजी शिक्षितोंने जो मिथ्या भेद उत्पन्न किया है, वह भ्रम और अज्ञान-सम्भूत है। वेदों और उपनिषदोंकी गूढ़ातिगूढ़ बातोंको सर्वसाधारणको समझानेवाले, व्याख्या करनेवाले, विस्तृत आलोचना करके तथा जीवनके सामान्य कार्योंमें लगनेकी चेष्टा करनेवाले, होनेके कारण अठारहो पुराण हिंदू-धर्मके प्रमाणमें ग्रहण करनेके योग्य हैं। पर जो लोग वेदों और उपनिषदोंको भूलकर पुराणोंको स्वतंत्र और यथेष्ट प्रमाण समझकर ग्रहण करते हैं, वे लोगभी भूल करते हैं; क्योंकि इससे हिंदू-धर्मके अभ्रांत और अपौरुषेय मूलको बाद दे देनेसे, भ्रम और मिथ्या ज्ञानको आश्रय मिलता, वेदार्थ लोप होता तथा पुराणोंके असली अर्थपर भी पर्दा पड़ जाता है। वेदोंके आधारपर पुराणोंको स्थापित करके पुराणोंका उपयोग करना चाहिये।

प्राकाम्य

(१)

गोंमें जिस समय अष्ट-सिद्धिकी चर्चा होती है, उस समय अलौकिक योग-प्राप्त कई अपूर्व शक्तियोंका स्मरण हो आता है। अवश्य ही आठों सिद्धियोंका पूर्ण विकाश योगियोंको ही होता है, किन्तु ये सारी शक्तियाँ प्रकृतिके साधारण नियमोंके बाहर नहीं, वरन् जिसे हम प्रकृतिका नियम कहते हैं, उसीमें आठों सिद्धियोंका समावेश है।

आठ सिद्धियोंके नाम महिमा, लघिमा, अणिमा, प्राकाम्य, व्याप्ति, ऐश्वर्य्य, वशिता और ईशिता हैं। येही सब परमेश्वरके अष्ट-स्वभाव-सिद्ध शक्ति करके परिचित हैं। प्राकाम्यको ही लीजिये—प्राकाम्यका अर्थ सब इंद्रियोंका पूर्ण विकाश और अबाध क्रिया है। वास्तवमें पाँच ज्ञानेंद्रियों अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वचा और जिह्वा तथा मनकी सारी क्रियायें प्राकाम्यके अंतर्गत हैं। प्राकाम्यकी शक्तिसे ही आँखसे देखते, कानसे सुनते, नाकसे सूँघते; त्वचासे स्पर्शानुभव करते और जिह्वासे रसास्वादन करते हैं तथा मनसे बाहरी सब स्पर्शोंका ज्ञान होता है। साधारणलोग समझते हैं कि स्थूल इंद्रियोंमें ही ज्ञान धारण करनेकी शक्ति है; तत्ववेत्तालोग जानते हैं कि आँख

नहीं देखती, मन देखता है; कान नहीं सुनता, मन सुनता है; नाक आघ्राण नहीं करती, मन आघ्राण करता है। जो और भी श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी हैं, वे जानते हैं कि मन भी देखता, सुनता और आघ्राण नहीं करता वरन् जीव देखता, सुनता और आघ्राण करता है। जीव ही ज्ञाता है, जीव ईश्वर है, भगवानका अंश है। भगवानकी अष्ट-सिद्धि जीवकी भी अष्ट-सिद्धि है।

ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

हमारा सनातन अंश जीव-लोकमें जीव होकर मन और पंञ्चमेन्द्रियोंको प्रकृतिके मध्यमें पाकर उसे आकर्षित करता है (अपने उपभोगमें लगाकर और भोगके लिये आयोजन करता है)। जिस समय जीव-रूपी ईश्वर शरीर प्राप्त करता है अथवा शरीरसे निर्गमन या पयान करता है, उस समय, जिस प्रकार हवा सुगन्धको पुष्पसे उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार यह जीव शरीरसे सब इन्द्रियों-(मन और पाँच इन्द्रियों) को ले जाता है; कान, आँख, स्पर्श, जीभ, नाक और मनमें ठहरकर यह (जीव) विषयोंका भोग करता है। देखना, सुनना, सूँघना, स्वाद लेना, छूना और मनन करना ये सब प्राकाम्यकी क्रियायें

हैं। भगवानका सनातन अंश जीव इस प्रकृतिकी क्रियाको लेकर प्रकृतिके विकारसे पञ्चेन्द्रिय और मन सूक्ष्म-शरीरमें विकाश करता है; स्थूल शरीर धारण करनेके समय यह जीव षडिन्द्रिय यानी मन और पाँच इन्द्रियोंको लेकर प्रवेश करता और मृत्युकालमें यह षडिन्द्रियोंको लेकर निकल जाता है। चाहे स्थूल देह हो अथवा सूक्ष्म, वह जीव इन षडिन्द्रियोंमें निवास करके सब विषयोंका भोग करता है।

कारण-शरीरमें सम्पूर्ण प्राकाम्य है, वह शक्ति सूक्ष्म-शरीरमें विकाश प्राप्त करती है, पश्चात् स्थूल-शरीरमें विकसित होती है। किन्तु प्रथमहीसे स्थूलमें सम्पूर्ण प्रकाश नहीं होता, जगत्के क्रम-विकाशमें सब इन्द्रियाँ क्रमसे विकसित होती हैं, अन्तमें कई एक पशुओंमें मनुष्यका उपयोगी विकाश और प्राखर्य्य प्राप्त करती हैं। मनुष्यमें पञ्चेन्द्रियाँ अल्प निस्तेज होकर रहती हैं, कारण यह कि हमलोग मन और बुद्धिका विकास करनेमें अधिक शक्तिका योग करते हैं। किन्तु यह असम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्राकाम्य-विकाशकी अन्तिम अवस्था नहीं। योग-द्वारा सूक्ष्म-शरीरमें जितना प्राकाम्य-विकाश होता है, वह स्थूल शरीरमें भी प्रकाश पाता है। इसीको योग-प्राप्त प्राकाम्य-सिद्धि कहते हैं।

(२)

परमेश्वर अनन्त और अपरिसीम पराक्रमी हैं, उनकी स्वभावसिद्ध शक्तिका क्षेत्र भी अनन्त और क्रिया अपरिसीम है।

जीव ईश्वर है, भगवानका अंश है, सूक्ष्म शरीर* और स्थूल-शरीरमें आवद्ध होकर धीरे-धीरे ऐश्वरिक शक्तिका विकाश कर रहा है। स्थूल शरीरकी सब इन्द्रियाँ विशेषत: सीमाबद्ध हैं। मनुष्य जितने दिनोंतक स्थूल-देहकी शक्तिद्वारा जकड़ा हुआ रहता है, उतने दिनोंतक बुद्धिके विकाशसे ही वह पशुकी

१—तीन शरीर हैं; स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

स्थूल-शरीर-पंचीकृत पंचमहाभूतके पचीस तत्वोंसे बने हुए शरीरको स्थूल-शरीर कहते हैं। जिस रूपमें हम, आप तथा और सब जीव दिखायी पड़ रहे हैं, उसी रूपका नाम स्थूल शरीर है। इसमें दस इंद्रियाँ हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदे ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ।

सूक्ष्म शरीर-अपंचीकृत पंच महाभूतके सत्रह तत्वोंसे बने हुए शरीरको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। उन सत्रह तत्वोंमें पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) तथा मन और बुद्धि।

कारण शरीर—मनुष्य जब सोकर उठता है, तब कहता है कि 'आज मैं ऐसा सोया कि, कुछ भी नहीं जानता' इससे यह सिद्ध होता है कि सोनेमें अज्ञान है। सोनेवाले का 'मैं कुछ भी नहीं जानता' यह ज्ञान अनुभव रूप नहीं वरन् सुषुप्तिकालमें अनुभव किये अज्ञानकी स्मृति है। उस स्मृतिका विषय सुषुप्तिकालका अज्ञान है। जाग्रदवस्थामें भी मुझे अपनी वास्तविक सुध कुछ भी नहीं रहती। मनुष्य कहता है कि, 'मैं यह नहीं जानता'। 'मैं यह नहीं जानता' इस अनुभवका विषय भी अज्ञान है। स्वप्नका कारण भी निद्रारूप अज्ञान है। बस इस अज्ञानको ही कारण-शरीर या कारण-देह कहते हैं। तत्वज्ञानसे इस अज्ञानका दाह किया जाता है, इसलिये इसे 'देह' कहते हैं। अज्ञान स्थूल-देह और सूक्ष्म-देहका कारण है, इसलिये अज्ञानको कारण कहते हैं। सारांश यह कि अज्ञानका नाम ही कारण-देह है।

अपेक्षा उत्कृष्ट है; नहीं तो इन्द्रियोंकी प्रखरता एवं मनकी अभ्रान्त क्रियासे—एक बातमें प्रकाम्य सिद्धिसे—पशु ही उत्कृष्ट है। इसी प्रकाम्यको विज्ञानवेत्तालोग Instinct (पशु-बुद्धि) कहते हैं। पशुओंमें बुद्धिका विकाश बहुत ही कम होता है। किन्तु संसारमें बचकर रहनेकी आवश्यकता है, इसलिये बुद्धि अत्यल्प होनेके कारण पशुओंको किसी ऐसी वृत्तिकी आवश्यकता है, जो पथ दिखानेवाली होकर क्या ग्रहण करनेके योग्य है और क्या त्याग करनेके योग्य है—आदि बातोंका ज्ञान करावे। इसीसे ईश्वरने पशुओंके मनको यही शक्ति प्रदान की है। पशुओंका मन ही यह सब काम करता है। मनुष्योंका मन कुछ निर्णय नहीं करता, बुद्धि ही निश्चय करने-वाली है, मन तो केवल संस्कार-सृष्टिका यन्त्र है। हम जो कुछ देखते, सुनते और समझते हैं; वह सब मनमें संस्कार रूपसे परिणत होता जाता है; बुद्धि उस संस्कारको लेकर ग्रहण करती, प्रत्याख्यान करती और चिन्तन करती है। पशुओंकी बुद्धि इस निर्णय-कर्ममें अपारग यानी असमर्थ है। पशु अपनी बुद्धि द्वारा नहीं बल्कि मनद्वारा समझता और चिन्तन करता है।

मनकी एक अद्भुत शक्ति है, दूसरेके मनमें जो कुछ होता है, उसे क्षणभरमें ही मन समझ जाता है; बिना विचार किये ही जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब समझ लेता एवं कामकी उपयुक्त प्रणाली ठीक करता है। हम किसीको भी घरमें घुसते देखते नहीं, किन्तु समझ जाते हैं कि कौन घरमें छिपा

हुआ है; भयका कोई कारण उपस्थित नहीं होता, पर हम आशंकित हो जाते हैं; और शीघ्र ही उस आशंकाका कारण ढूँढ़ निकालते हैं; भाई अपने मुँहसे एक बात भी नहीं कहता, किन्तु उसके बोलनेके पहले ही वह क्या कहेगा, इसे हम समझ लेते हैं, इत्यादि बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु बुद्धिकी सहायतासे सारा काम करनेमें हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यह क्रिया और प्राकाम्य हमलोगोंमें प्राय: लोप सा हो गया है। किन्तु पशु यदि इस प्राकाम्यको अपने वशमें न रखे तो वह दो ही दिनमें मर जाय। क्या पथ्य है, क्या अपथ्य है, कौन मित्र है, कौन शत्रु है, कहाँ भय है, कहाँ निरापद है आदि बातोंका ज्ञान पशुओंको प्राकाम्यद्वारा ही होता है। इसी प्राकाम्यद्वारा कुत्ते अपने स्वामियोंकी भाषा न समझते हुए भी उनकी बातोंका असली मतलब या मनका भाव समझते हैं, घोड़े भी इसी प्राकाम्यकी शक्तिसे एकबार जिस मार्गसे चले जाते हैं, उस मार्गको पहचान लेते हैं। ये सब प्राकाम्य-क्रियायें मनकी हैं।

पञ्चेन्द्रियोंकी शक्तिसे भी पशु मनुष्यको हरा देता है। कौन मनुष्य कुत्तेकी तरह गन्ध अनुसरणकर एक सौ मील-की दूरीसे और सबका मार्ग छोड़कर एक जन-विशिष्ट जानवरोंसे अपनी रक्षा करता हुआ अपने स्थानपर वापस आ सकता है? या ऐसा कौन मनुष्य है, जो अन्धकारमें पशुओंके समान देख सकता है? अथवा केवल शब्द सुनकर अपने

कानोंद्वारा गुप्त शब्द करनेवालेको प्रकट ही कौन मनुष्य कर सकता है? Telepathy या दूरसे चिन्ता ग्रहण सिद्धिकी बात कहकर किसी अंग्रेजी सम्वाद-पत्र-(अखबार) ने कहा है कि, Telepathy मनकी प्रक्रिया है; यह प्रक्रिया पशुकी सिद्धि है, मनुष्यकी नहीं; अतएव Telepathy के विकाश-से मनुष्यकी उन्नति न होकर अवनति ही होगी। स्थूल बुद्धि घृटेनका अवश्य ही यह तर्क उपयुक्त है। अवश्य ही मनुष्य जो बुद्धि विकाशके लिये अपनी ग्यारह इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विकाश-से पराङ्मुख (विमुख) हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है, नहीं तो प्रयोजनाभावसे उसकी बुद्धिका विकाश इतने शीघ्र न होता। किन्तु जिस समय सम्पूर्ण बुद्ध-विकाश हो जाता है, उस समय ग्यारह इन्द्रियोंका पूर्ण विकाश करना मानव-जाति-का कर्त्तव्य है। क्योंकि इससे बुद्धिके विचार करने योग्य ज्ञानकी वृद्धि होगी, और मनुष्य भी मन एवं बुद्धिके पूर्ण अनुशीलनसे अन्तर्निहित देवत्व प्रकाशका उपयुक्त पात्र होगा। किसी भी शक्तिका विकाश अवनतिका कारण कदापि नहीं हो सकता—केवल शक्तिके अवैध प्रयोगसे, मिथ्या व्यवहारसे और असामञ्जस्य दोषसे अवनति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

विश्वरूप दर्शन

गीतामें विश्वरूप

न्देमातरम्” शीर्षक लेखमें हमारे श्रद्धेय बन्धु विपिनचन्द्र पालने प्रसंगानुसार अर्जुनके विश्वरूप-दर्शनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि, गीताके ग्यारहवें अध्यायमें जो विश्वरूप दर्शनका वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण असत्य और कविकी कल्पना मात्र है। हम इस बातका प्रतिवाद करनेके लिये बाध्य हैं। विश्वरूप दर्शन गीताका बहुत ही प्रयोजनीय अंग है, अर्जुनके मनमें जो द्विधा और संदेह उत्पन्न हुआ था, उसका श्रीकृष्णने तर्क और ज्ञान-गर्भित उक्तिद्वारा प्रत्याख्यान किया है किन्तु तर्क और उपदेशद्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दृढ़तासे नहीं टिकता। जिस ज्ञानकी यथार्थ रीतिसे प्राप्ति होती है, उसी ज्ञानकी दृढ़ स्थापना होती है। इसीलिये अर्जुनने अंतर्यामीकी अलक्षित प्रेरणासे विश्वरूप दर्शनकी आकांक्षा प्रकट की। विश्वरूप दर्शनसे अर्जुनका संदेह चिरकालके लिये दूर हो गया और बुद्धि निर्मल होकर गीताके परम रहस्यको ग्रहण करनेके योग्य हुई। विश्वरूप दर्शनके पहले गीता में जो ज्ञान कथित हुआ है, वह साधकके उपयोगी ज्ञानका बहिरंग है, उस रूप-दर्शनके पश्चात् जो ज्ञान कथित हुआ है, वह ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्यमय सनातन शिक्षा है। इस विश्वरूप दर्शनके वर्णनको कविकी उपमा कहनेसे गीताका गाम्भीर्य्य और सत्यत्व दोनों ही

नष्ट हो जाता है, और उसकी योग-प्राप्त उच्चातिउच्च शिक्षा दार्शनिक और कविकी कल्पनाके समावेशमें परिणत हो जाती है। विश्वरूप-दर्शन न तो कल्पना ही है, और न उपमा ही है; वह सत्य है, अति प्राकृत सत्य नहीं—क्यों नहीं? इसलिये कि विश्व-प्रकृतिके अंतर्गत विश्वरूप अति प्राकृत नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण-जगत्‌का सत्य है; कारण-जगत्‌का रूप दिव्य चक्षुओंसे दिखायी पड़ता है दिव्य-दृष्टि प्राप्त अर्जुन ने कारण-जगत्‌का विश्वरूप देखा था।

साकार और निराकार

जो लोग निर्गुण निराकार ब्रह्मके उपासक हैं, वे शरीर और आकारकी बात रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं; जो लोग सगुण निराकार ब्रह्मके उपासक हैं, वे शास्त्रकी अन्य रूपसे व्याख्या करके निर्गुणत्व अस्वीकार करते एवं आकारकी बात रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं, इसी तरह सगुण साकार ब्रह्मके उपासक दोनोंहीके ऊपर खड्ग-हस्त हैं। पर मैं इन तीनों मतोंको ही संकीर्ण और असम्पूर्ण ज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझता हूँ। क्योंकि जो लोग साकार और निराकार, दोनों प्रकारसे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, वे किस तरह एकको सत्य और दूसरेको असत्य कल्पना कहकर ज्ञानका अंतिम स्मरण नष्ट करेंगे, एवं असीम ब्रह्मको सीमा-बद्ध करेंगे? यदि ब्रह्मका निर्गुणत्व और सगुणत्व अस्वीकार करते हैं, तो हम भगवान का उपहास करते हैं, यह बात सत्य है; किन्तु यदि ब्रह्मका सगुणत्व

और साकारत्व अस्वीकार करते हैं, तो भी हम भगवानका उपहास करते हैं, यह बात भी सत्य है। भगवान रूपके कर्त्ता स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वह किसी रूपमें आवद्ध नहीं; भगवान जिस प्रकार साकारत्वद्वारा आवद्ध नहीं हैं, उसी प्रकार निराकारत्वद्वारा भी आवद्ध नहीं हैं। भगवान सर्व-शक्तिमान हैं। स्थूल प्रकृतिके नियम अथवा देशकालके नियम रूपी जालमें उनको फँसानेके अभिप्रायसे यदि हम कहें कि जब तुम अनन्त हो, तो हम तुमको अन्तवाला नहीं होने देंगे, चेष्टा करके देखते हैं, तुम नहीं देख सकोगे, तुम हमारे अकाट्य तर्क और युक्तिसे इस प्रकार आवद्ध हो, जिस प्रकार प्रस्पेरोके इन्द्रजालमें फर्डीनेण्डहो,—यह हास्यजनक बात है। वास्तवमें यह कैसा घोर अहंकार और अज्ञान है!

भगवान बन्धन-रहित, निराकार और साकार हैं, साधकको साकार होकर दर्शन देते हैं,—उसी आकारमें पूर्ण भगवान रहते भी हैं, या यों कहिये कि भगवान हर समयमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहते हैं। भगवान देशकालसे अलग और अतर्क-गम्य हैं, देश और काल उनके कौतूहलकी सामग्री है, देश और काल-रूपी जालमें सब प्राणियोंको रखकर क्रीड़ा करते हैं, किन्तु हमलोग उन्हें उस जालमें फँसा नहीं सकते। जितनी ही बार हम तर्क और दार्शनिक युक्तिका प्रयोग करके वह असाध्य साधन करते जाते हैं, उतनी ही बार भगवान रङ्गमय उस जालको समेटकर हमारे आगे पीछे, पार्श्व (समीप) दूर

चारों ओर मीठी मीठी हँसीसे विश्वरूप और विश्वातीतरूप प्रसार करके हमारी बुद्धिको परास्त करते हैं। जो लोग कहते हैं कि हम भगवानको जान गये, वे भगवानको तनिक भी नहीं जानते जिन लोगोंको जानही नहीं पड़ता, वेही प्रकृत ज्ञानी हैं।*

विश्वरूप

जो लोग शक्तिके उपासक, कर्मयोगी, यंत्रीके यंत्र होकर भगवानके निर्दिष्ट किये हुए कार्योंको करनेमें आदिष्ट या तत्पर हैं, उनकी विश्वरूप दृष्टिमें दर्शन बहुत ही प्रयोजनीय है। विश्वरूप दर्शनके पहले भी वे प्राप्त कर सकते हैं, किंतु वह दर्शन-लाभ नहो जानेतक आदेश ठीक स्वीकार नहीं होगा। रुजू या मौजूद तो हो जाता है, पर पाश (कर्णस्पर्श) नहीं होता। तबतक उनकी कर्म-शिक्षा या तैयारी होनेका समय रहता है। विश्वरूप-दर्शनमें कर्म-का आरम्भ है। विश्वरूप-दर्शन बहुत तरहसे हो सकता है-जैसी साधना और जैसा साधकका स्वभाव हो। कालीजीके विश्व-रूप-दर्शनके साधक जगतमय अपरूप यानी विकृत रूप स्त्री रूप देखते हैं। एक अथवा अनन्त देहयुक्त सब जगह वह सघनान्ध-कार-प्रस्तारक घनकृष्ण कुन्तलराशि आकाशाच्छादित रहती हैं, सर्वत्र वह रक्ताक्त खड्गकी आभा झलकाकर नृत्य करती हैं,

---

* 'अविज्ञातं विज्ञानता विज्ञात सविजानताम्' (केन०) अर्थात् जो कहते हैं कि हमें परब्रह्मका ज्ञान हो गया, उन्हें उसका-ज्ञान नहीं हुआ है और जिन्हें जान ही नहीं पड़ता कि हमने उसको जान लिया, उन्हें ही वह ज्ञान हुआ है। उपनिषद्के इस अवतरणसे ऊपरके वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

जगतमय उस भीषण अट्टहासका स्रोत बहाकर विश्वब्रह्माण्डको चूर्ण विचूर्ण करती हैं। यह सब कथन कविकी कल्पना नहीं, अति प्राकृत उपलब्धिको असम्पूर्ण मनुष्यकी भाषामें वर्णन करनेकी विफल चेष्टा नहीं! यह कालीका आत्म-प्रकाश है, यह हमारी मातेश्वरीका प्रकृत-रूप है। जो कुछ दिव्य चक्षु द्वारा देखा गया है, उसीका अनतिरञ्जित सरल और सत्य वर्णन है। अर्जुन ने कालीका विश्वरूप नहीं देखा था, उन्होंने कालरूपी श्रीकृष्णका संहारक विश्वरूप देखा था। दोनों एक ही बात है। उन्होंने दिव्य-चक्षुसे देखा था, वाह्यज्ञान-हीन समाधिसे नहीं—जो देखा, व्यासदेवने उसका अविकल अनतिरंजित वर्णन किया यह स्वप्न नहीं, कल्पना नहीं, सत्य और जाग्रत-सत्य है।

कारण—जगत् का रूप

भगवान-अधिष्ठित तीन अवस्थाओंकी बात शास्त्रोंमें पायी जाती है, प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति; तैजस या हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित स्वप्न और विराट्-अधिष्ठित जगत्। प्रत्येक अवस्था एकएक जगत् है। सुषुप्तिसे कारण-जगत्, स्वप्नसे सूक्ष्म-जगत् और जाग्रत से स्थूल-जगत् है कारणमें जो निर्णीत और हमारे देश कालसे परे है, सूक्ष्ममें वह प्रतिभासित और स्थूलमें आंशिक भावसे स्थूल-जगत्के नियमानुसार अभिनीत होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि मैं धार्त्तराष्ट्रों-(धृतराष्ट्र पुत्रों) का पहलेही वध कर चुका हूँ, किन्तु स्थूल-जगतमें उस समय दुर्योधनादि युद्ध क्षेत्रमें अर्जुनके सामने दंडायमान, जीवित और युद्धमें व्यापृत

यानी युद्धके व्यापारमें लगे हुए थे। पर भगवान श्रीकृष्णका यह कथन असत्य और उपमा-युक्त नहीं। कारण-जगत्में वे उनलोगोंका वध कर चुके थे। यदि नहीं, तो इस लोकमें उनका वध असम्भव था। हमारा प्रकृत-जीवन कारणमें है, स्थूलमें तो उसकी छाया-मात्र पड़ती है। किन्तु कारण-जगत्का नियम, देश, काल, रूप और नाम स्वतंत्र है। विश्वरूप कारणका रूप है, और वह स्थूलमें दिव्य चिक्षुसे प्रकाशित होता है।

दिव्य चक्षु

दिव्य चक्षु क्या है? दिव्य चक्षु कल्पनाका चक्षु नहीं, और न कविकी उपमा ही है। योग-प्राप्त दृष्टि तीन प्रकारकी है-सूक्ष्म-दृष्टि, विज्ञान-चक्षु और दिव्य-चक्षु। सूक्ष्म-दृष्टिसे हम स्वप्नमें जाग्रदवस्थामें मानसिक मूर्ति देखते, विज्ञानचक्षुसे हम समाधिस्थ होकर सूक्ष्म-जगत् और कारण-जगत् अंतर्गत नाम रूपकी प्रतिमूर्ति और सांकेतिक रूप चिदाकाशमें देखते तथा दिव्य चक्षुसे कारण-जगत्का नाम-रूप प्राप्त करते हैं,—समाधिसे भी प्राप्त करते, स्थूल चक्षुके सामने भी देख पाते हैं। जो स्थूल इन्द्रियोंको अगोचर है, वह यदि इंद्रिय-गोचर होता है, तो उसको दिव्य चक्षुका प्रभाव मानना पड़ता है। अर्जुन दिव्य चक्षुके प्रभावसे जाग्रदवस्थामें भगवानका कारणान्तर्गत विश्वरूप देखकर संदेह-मुक्त हुए थे। वह विश्वरूप-दर्शन स्थूल-जगत्का इंद्रियगोचर सत्य न होकर, स्थूल सत्यकी अपेक्षा सत्य कल्पना है, असत्य या उपमा नहीं।

स्तवस्तोत्र

साधक, साधन और साध्य; इन्हीं तीनों अंगोंको लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। साधकोंके भिन्न-भिन्न स्वभावमें भिन्न-भिन्न साधन आदिष्ट एवं भिन्न-भिन्न साध्य भी अनुसृत होते हैं। किन्तु स्थूल दृष्टिसे अनेकों साध्य होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि सब साधकोंका साध्य एक है और वह साध्य आत्मतुष्टि है। याज्ञवल्क्यने अपनी सहधर्मिणीको समझाया है कि आत्माके लिये ही स्त्री, धन, प्रेम, सुख, दुःख, जीवन और मरण सब कुछ है, इसलिये आत्मा क्या है, इस प्रश्नका गुरुत्व है और इसीकी प्रयोजनीयता भी है।

अनेकों विज्ञ और पण्डित कहते हैं कि, आत्म-ज्ञानका पचड़ा लेकर इतना व्यर्थ माथा किस लिये मारें? यह सब सूक्ष्म विचारमें समय नष्ट करनेकी वातुलता है, संसारका प्रयोजनीय विषय और मानव-जाति-कल्याणकी चेष्टा लेकर रहना चाहिये। किन्तु संसारका कौनसा विषय प्रयोजनीय है, एवं मानव-जातिका कल्याण किससे होगा, इस प्रश्नकी भी तो मीमांसा ज्ञानहीके ऊपर निर्भर करती है। हमारे ज्ञानके

अनुसार ही हमारा साध्य होता है, यदि हम अपने शरीरको आत्मा समझें, तो हम तुष्टि-साधनार्थ और सब विचार तथा विवेचनोंको जलाञ्जलि दे स्वार्थ-तत्पर नर-पिशाच होकर रहेंगे। यदि स्त्रीको ही आत्मवत् देखें और आत्मवत् प्रेम करें, तो हम स्त्रैन (स्त्री-स्वभाव) होकर न्याय और अन्यायका विचार न करके उसकी मनस्तुष्टिके सम्पादनके लिये प्राणपनसे चेष्टा करेंगे, दूसरेको कष्ट देकर भी उसको सुख पहुँचायेंगे, दूसरेका अनिष्ट करके उसीका इष्ट सिद्ध करेंगे। यदि हम देशको ही आत्मवत् देखें, तो निश्चय ही हम एक महान् देश-हितैषी पुरुष होंगे, कदाचित् इतिहासमें अक्षयकीर्ति भी रख जायँगे, किन्तु अन्यान्य धर्म परित्याग करके दूसरे देशोंका अनिष्ट, धन-लुण्ठन और स्वाधीनताका अपहरण कर सकते हैं। यदि भगवानको आत्मा समझें अथवा आत्मवत् प्रेम करें-एक ही बात है, क्योंकि प्रेम चरम दृष्टि हुई तो—हम भक्त, योगी और निष्काम कर्मी होकर साधारण मनुष्यकी अप्राप्य शक्ति ज्ञान अथवा आनन्दोपभोग कर सकते हैं। यदि निर्गुण परब्रह्मको आत्मा कहकर जानें, तो परम शान्ति और लयको प्राप्त हो सकते हैं। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी रूपका हो जाता है। मानव-जाति चिरकालसे साधन करती आ रही है, प्रथम क्षुद्र, फिर अपेक्षाकृत महान् और अन्ततः सर्वोच्च परात्पर यानी श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ साध्यका साधन करके गन्तव्य स्थान श्रीहरिके परम-धामको

प्राप्त होती चली आ रही है। एक युग था, कि मानव-जाति केवल शरीरका साधन करती थी। शरीर-साधन उस समयका युग-धर्म था; अन्यान्य धर्मोंको किनारे रखकर उस समय शरीर-साधन करना ही श्रेयस्कर मार्ग था। कारण यह कि, उसके न होनेसे शरीर, जो शरीर धर्म-साधनका उपाय और प्रतिष्ठा है,—उत्कर्ष लाभ न करता। इसी प्रकार एक युगमें स्त्री और घरबार, एक युगमें कुल और एक युगमें—जैसे आधुनिक युगमें जाति ही साध्य है। सर्वोच्च परात्पर यानी श्रेष्ठसे श्रेष्ठ साध्य परमेश्वर, भगवान हैं। भगवान ही सबके प्रकृत और परमात्मा हैं, अतएव प्रकृत भी परम-साध्य है। इसीसे गीतामें लिखा है कि, 'सब धर्मका परित्याग करके हमारा ही स्मरण करो। भगवानमें सब धर्मोंका समन्वय होता है। उनका साधन करनेसे वे स्वयं ही हमारे भारको लेकर हमें यन्त्र करके स्त्री, परिवार, कुल, जाति, मानव सृष्टिकी परम-तुष्टि और परम-कल्याण साधन करेंगे।

एक ही साध्यका साधक लोग अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न तरहसे साधन भी करते हैं। भगवानके साधनका भी एक प्रधान उपाय है स्तवस्तोत्र। पर यह सबका उपयोगी साधन नहीं। ज्ञानीके लिये ध्यान और समाधि तथा कर्मीके लिये कर्म समर्पण ही श्रेष्ठ उपाय है। स्तवस्तोत्र भक्तिका अङ्ग है—अवश्य ही श्रेष्ठ अङ्ग नहीं है; क्योंकि अकारण प्रेम भक्तिका चरम उत्कर्ष है। वही अकारण प्रेम भगवानके स्वरूपको

स्तवस्तोत्रद्वारा आयत्त करनेके पश्चात् स्तवस्तोत्रकी प्रयोजनीयता अतिक्रम करके उसी स्वरूपके योगमें लीन हो जाता है, फिर भी इस प्रकारके भक्त नहीं हैं कि स्तवस्तोत्र न करके भी रह सकें। जिस समय और साधनोंकी आवश्यकता न हो, उस समय भी स्तवस्तोत्रमें प्राणका उच्छ्वास उछल पड़ता है। केवल स्मरण करना होता है कि साधन साध्य नहीं; हमारा जो साधन है, दूसरेका वह साधन नहीं भी हो सकता। बहुतसे भक्तोंकी यही धारणा देखी जाती है कि, जो लोग भगवानका स्तवस्तोत्र नहीं करते, स्तवस्तोत्रका श्रवण करनेमें आनन्द प्रकाश नहीं करते, वे धार्मिक नहीं हैं। किन्तु यह कथन भ्रांति और संकीर्णताका लक्षण है। उदाहरणार्थ बुद्धदेव स्तवस्तोत्र नहीं करते थे, तथापि कौन बुद्धको अधार्मिक कह सकेगा? साधन करनेके लिये भक्तिमार्गं स्तवस्तोत्रकी सृष्टि है।

भक्त अनेक तरहके हैं, तदनुसार स्तवस्तोत्रका प्रयोग भ अनेक तरहका होता है। आर्त भक्त दुःखके समयमें भगवानके समीप भयके लिये, सहायताकी प्रार्थनाके लिये उद्धारकी आशासे स्तवस्तोत्र करते हैं, और अर्थार्थी यानी अर्थकी इच्छा रखनेवाले भक्त किसी भी अर्थ-सिद्धिकी आशासे, धन, मान, सुख, ऐश्वर्य, जय, कल्याण भुक्ति, मुक्ति इत्यादि उद्देश्यसे संकल्प करके स्तवस्तोत्र करते हैं। इस श्रेणीके भक्त अनेकों बार भगवानको प्रलोभन दिखाकर सन्तुष्ट करना चाहते हैं। कितने ही लोग मनोकामना पूर्ण न होनेपर ईश्वरके ऊपर रूठ जाते हैं, तथा उनको

निष्ठुर प्रवञ्चक आदि अपशब्दोंसे विभूषित करके कहते हैं कि अब ईश्वराराधन कभी न करूँगा, उनका मुख कभी न देखूँगा, किसी तरह मन, वच, कर्म अथवा ध्यान-पूजा आदिसे नहीं मानूँगा। बहुतसे लोग हताश होकर नास्तिक हो जाते हैं और यह निश्चय कर लेते हैं कि यह संसार दुःख, अन्याय और अत्याचारका राज्य है, ईश्वर कुछ नहीं है, उसको मानना व्यर्थ है। पर यह दोनों तरहकी भक्ति अज्ञ भक्ति है। ऐसा कहकर ईश्वरकी भक्ति उपेक्षणीय नहीं; क्योंकि अभीष्ट-सिद्धि न होनेसे हताश होकर अनर्गल विचारोंका निश्चय नहीं करना चाहिये वरन् ईश्वरमें दृढ़ भरोसा रखकर अपने कर्म-पथपर दृढ़ रहना चाहिये। क्योंकि यह निश्चय है कि क्षुद्र ही महान होता है। ईश्वरके अकृपापात्र उपासक ही किसी दिन उनके कृपाभाजन बनते हैं। अविद्या साधन विद्याकी प्रथम सीढ़ी है। देखिये, बालक भी अज्ञ है, किन्तु उसकी अज्ञतामें एक प्रकारका विचित्र माधुर्य्य है। बालक भी माताके समीप रोता; दुःखका प्रतिकार चाहता, अनेक प्रकारके सुख और स्वार्थके लिये भाग जाता, हठ करता फिर भी न मिलनेसे वह रूठ जाता और दौरात्म्य करता है यानी उसके हृदयमें अनेक प्रकारके कुभाव पैदा होने लगते हैं पर मा उसे फुसलाती ही रहती है। ठीक यही हाल जगज्जननीका है। जगज्जननी भी प्रसन्न मुखसे अज्ञ भक्तके सारे कटुवाक्यों और दौरात्म्यको सहन करती है।

जिज्ञासु यानी जाननेकी इच्छा रखनेवाले भक्त किसी अर्थ-सिद्धि अथवा भगवानको संतुष्ट करनेके लिये स्तवस्तोत्र नहीं करते। वे तो स्तवस्तोत्रको शुद्ध भगवानके स्वरूपको प्राप्त करने एवं आत्मीय भाव-पुष्टिका उपाय मात्र ही मानते हैं। ज्ञानी भक्तोंमें यह प्रयोजन भी नहीं रहता, क्योंकि उन्हें उनका स्वरूप प्राप्त हुआ रहता है, उनका भाव सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित होता है, केवल भावोच्छ्वासके लिये स्तवस्तोत्रका प्रयोजन है। गीतामें कहा है कि, ये चार श्रेणीके भक्त सभी उदार हैं, कोई भी उपेक्षणीय नहीं। सब भगवानको प्रिय हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त सबसे अधिक; कारण यह कि ज्ञानी और भगवान एकात्म हैं। भगवान भक्तोंके साध्य अर्थात् आत्म-रूपमें ज्ञातव्य और प्राप्य हैं। ज्ञानी भक्तमें भी भगवानमें आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध होता है। ज्ञान, प्रेम और कर्म इन्हीं तीनों सूत्रोंमें आत्मा और परमात्मा परस्पर आवद्ध हैं। जो कर्म है वह भगवद्दत्त है, उसमें कोई प्रयोजन या स्वार्थ नहीं, प्रार्थनीय कुछ भी नहीं है। जो प्रेम है, वह कलह और अभिमानशून्य—निःस्वार्थ निष्कलंक और निर्मल है, जो ज्ञान हैं वह शुष्क और भाव-रहित नहीं, वरन् गम्भीर, तीव्र आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण है। साध्यके एक होते हुए भी जैसे साधक होते हैं, वैसे ही साधन और वैसे ही भिन्न भिन्न साधकके एकही साधनके पृथक् पृथक् प्रयोग हैं।

नवजन्म

तामें अर्जुन ने श्रीकृष्णसे यह जाननेकी इच्छा प्रकट की कि "जो लोग योग-पथमें प्रवेश करके शेष पर्यन्त पहुँचते न पहुँचते स्खलित-पद और योगभ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी क्या गति होती है? क्या वे ऐहिक और पारलौकिक दोनोंके फलोंसे वञ्चित हो वायुखण्डित बादलकी भाँति विनष्ट हो जाते हैं?" भगवान श्रीकृष्णने कहा, "इस लोकमें अथवा परलोकमें इस प्रकारके व्यक्तिका नाश असम्भव है। उत्तम कार्य्यके करनेवाले कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते। समस्त पुण्यलोकमें उनकी गति होती है, वहाँपर दीर्घकालतक वास करके पवित्र और धनाढ्य-गृहमें अथवा किसी ऐसे योग युक्त महापुरुषके कुलमें जन्म होता है, जिस कुलमें जन्म होना लोगोंको दुर्लभ होता है। फिर वे उस जन्ममें पूर्व जन्मप्राप्त योग-ज्ञान द्वारा चालित होकर योगसिद्धिके लिये चेष्टा करते हैं और अन्तमें वे अनेक

जन्मके अभ्याससे पापमुक्त होकर परम-गतिको प्राप्त होते हैं।" जो पूर्वजन्मवाद चिरकालसे आर्य-धर्मके योग-प्राप्त ज्ञानका अङ्ग-विशेष है, पाश्चात्य विद्याके प्रभावसे शिक्षित समुदायमें उसकी प्रवृत्ति प्रायः नष्टसी हो गयी थी, श्रीराम-कृष्ण लीलासे न्यारे वेदान्त-शिक्षाके प्रचार और गीताके अध्ययनमें वह सत्य अब फिर स्थापित हो रहा है। स्थूल-जगत्में जिस प्रकार Heredity (पैत्रिक) प्रधान सत्य है, सूक्ष्म-जगत्में उसी प्रकार पूर्वजन्मवाद प्रधान सत्य है। श्रीकृष्णकी उक्तिसे ये ही दो सत्य स्थापित हैं। योग-भ्रष्ट पुरुष अपने पूर्वजन्म-प्राप्त ज्ञानके संस्कारसे जन्म ग्रहण करते हैं और उसी संस्कारद्वारा हवाके झोंकेसे चलनेवाली नौकाकी भाँति योग-पथमें प्रवृत्त होते हैं। किन्तु कर्मके फलकी प्राप्तिके योग्य शरीरकी उत्पत्तिके लिये उपयुक्त कुलमें जन्म लेनेका प्रयोजन है। उत्कृष्ट Heredity (पैत्रिक) योग्य शरीरका उत्पादक है। पवित्र श्रीमान् पुरुषोंके गृहमें जन्म होनेसे पवित्र और बलयुक्त शरीरका उत्पन्न होना सम्भव है, योगीके कुलमें जन्म लेनेसे उत्कृष्ट मन और प्राण गठित होता एवं उसी तरह-की शिक्षा और मानसिक गति भी प्राप्त होती है।

भारतवर्षमें लगातार कितने ही वर्षोंसे देखा जा रहा है कि एक नई जाति पुरानी ज्ञान-रहित जातिमें उत्पन्न हो रही है। भारतमाताकी पुरानी सन्तति धर्म्म-ग्लानि और अधर्म्ममें जन्म ग्रहण करके उसी तरहकी शिक्षा प्राप्तकर अल्पायु, क्षुद्राशय,

स्वार्थ परायण और संकीर्ण हृदय हो गयी थी। उसमें अनेकों तेजस्वी महात्माओंने शरीर धारणकर इस भीषण आपत्ति कालमें जातिकी रक्षा की है। किन्तु वे अपनी शक्ति और प्रतिभाके उपयुक्त कर्म न करके केवल जातिके भविष्य माहात्म्य और विशाल कर्मके क्षेत्रकी उत्पत्ति करके ही गये हैं। उन्हींके पुण्य-बलसे आज नवीन उषाकी किरणमाला चारों ओर प्रकाश कर रही है। भारतमाताकी नवीन सन्तति आज पिता-माताके गुण प्राप्त करनेसे वञ्चित रह साहसी, तेजस्वी, उच्चाशय, उदार, स्वार्थत्यागी, दूसरोंके और देशके हित साधनमें उत्साही तथा उच्च-आकांक्षा-पूर्ण हो गयी है। यही कारण है कि आजकल नवयुवक अपने पिता-माताके वशमें न रह असली पथके पथिक हो रहे हैं। वृद्धों और नवयुवकोंके मतमें विभिन्नता एवं कार्य्यकालमें विरोध उपस्थित हो रहा है। वृद्धलोग इस सत्ययुगके प्रवर्त्तक दैवी प्रेरणाके वशीभूत नवयुवकोंको स्वार्थ और संकीर्णताकी सीमामें आबद्ध रखनेकी चेष्टा कर बिना समझे कलियुगकी सहायता कर रहे हैं। किन्तु युवकगण महाशक्तिसे उत्पन्न आगकी चिनगारियोंकी तरह पुरानेके नाश और नयेकी उत्पत्तिमें उद्यत हैं; वे पितृ-भक्ति और वाध्यताकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। इस अनर्थकी शांति भगवान ही कर सकते हैं। यह निश्चय है कि, इस महाशक्तिकी इच्छा कभी विफल नहीं हो सकती, और ये नवयुवक जिस कामको करते आ रहे हैं, उस कामको बिना पूरा किये वे नहीं

मानेंगे। ऐसा होनेका कारण नवयुवकोंमें पूर्व-पुरुषोंका प्रभाव है। अधम Heredity (पैत्रिको) के दोष तथा राक्षसी शिक्षाके दोषसे, बहुतसे कुलाङ्गार भी उत्पन्न हुए हैं। जो लोग इस नवीन युगके परिवर्तनकालमें प्रवृत्त है, वे भी उन कुला· ङ्गारोंमें भीतरी तेज और शक्तिका विकाश नहीं करने पा रहे हैं। नवयुवकोंमें सत्ययुगके प्रकाशका एक पहला लक्षण, धर्म· परायण बुद्धि और बहुतोंके हृदयमें योगकी इच्छा और अध- खिली योग-शक्तिका होना है।

अलीपुर-(कलकत्ते) वाले बमके अभियुक्तोंमें अशोकनन्दी नामक एक अभियुक्त थे। उन्हें देखकर कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता था कि यह किसी भी षड्यन्त्रमें लिप्त हुए थे। अशोकनन्दीको बहुत ही थोड़े और विश्वास न करने योग्य प्रमाणपर दण्ड दिया गया था। वह अन्य देशभक्तोंकी तरह देशसेवामें रत नहीं हुए थे। बुद्धिसे, चरित्रसे तथा प्राणसे वह पूर्ण योगी और भक्त थे। संसारीके गुण उनमें छूतक नहीं गये थे। उनके पितामह सिद्ध तान्त्रिक योगी एवं उनके पिता भी योग प्राप्त शक्ति-सम्पन्न पुरुष थे। गीतामें जिस योगीके कुलमें जन्म होना मनुष्यके लिये अत्यन्त दुर्लभ कहकर वर्णन किया हुआ है, अशोकनन्दीको वही दुर्लभकुल प्राप्त हुआ था। थोड़ी ही अववस्थामें उनके पूर्वजन्मकी योगशक्तिके लक्षण एक- एक करके प्रकट होने लगे थे। गिरफ्तार होनेके बहुत पहले ही उन्हें ज्ञात हो गया था कि उनकी मृत्यु युवावस्थामें ही होगी;

इसीसे पढ़नेमें और सांसारिक जीवनके पहले आयोजन अर्थात् उद्योगमें उनका मन बिलकुल नहीं लगता था। फिर भी पिताकी सम्मतिसे पूर्वज्ञात असिद्धकी उपेक्षा करके कर्त्तव्य-कर्म समझकर वही करते थे एवं योग-पथमें भी आरूढ़ रहते थे। ऐसे समयमें ही वह गिरिफ्तार किये गये। इस कर्म-फल-प्राप्त आपत्तिमें जरा भी विचलित न होकर अशोकनन्दी जेलमें योगाभ्यास करनेमें अपनी पूर्णशक्तिका प्रयोग करने लगे। यद्यपि इस मुकदमेके अभियुक्तोंमें बहुतसे लोगोंने इस पथका अवलम्बन किया था, तथापि उन सभोंमें अशोक अग्रगण्य न होते हुए भी अद्वितीय थे। वे भक्ति और प्रेममें किसीकी भी अपेक्षा हीन नहीं थे। उनका उदार चरित्र, गम्भीर भक्ति और प्रेमपूर्ण हृदय सबके लिये मुग्धकर था। गोसाईंकी हत्याके समय ये Hospital (अस्पताल) में रोगीकी दशामें थे। पूर्ण रीतिसे स्वस्थ्य होनेके पहले ही वह निर्जन कारा-वासमें रखे गये। उसी समय उन्हें ज्वर भी आने लगा। ज्वर की हालत उन्हें बिना वस्त्रके सरदी सहनकर समय बिताना पड़ता था। इससे उन्हें क्षयरोग हो गया और उसी अवस्थामें जबकि प्राण-रक्षाकी और कोई आशा नहीं थी,—कठिन दण्ड दिया जाकर वे काल-कोठरीमें रखे गये। बैरिस्टर श्रीयुत चित्तरञ्जनदासकी* प्रार्थनासे उनको अस्पताल ले

* देशबन्धुदास महाशयकी महत्वपूर्ण कार्यों एवं अद्भुत देशभक्ति सहित सचित्र जीवनी अवश्य पढ़िये। मूल्य ॥)

जानेकी व्यवस्था की गयी, किन्तु जमानत देनेपर भी छुटकारा नहीं हुआ। अन्तमें छोटे लाट महोदयकी सहृदयतासे अपने घरमें स्वजनोंकी सेवा पाकर मरनेकी अनुमति मिली। अपीलसे छूटनेके पहले ही ईश्वरने उन्हें शरीर-रूपी कारावाससे मुक्ति दे दी। अन्त समयमें अशोककी योगशक्ति हदसे ज्यादा बढ़ गयी और मृत्युके दिन विष्णु-शक्तिसे अभिभूत हो सबलोगोंमें भगवानका मुक्तिदायक नाम और उपदेश वितरण कर ईश्वरके नामका उच्चारण करते हुए उन्होंने क्षणिक शरीरका त्याग किया।

पूर्वजन्म-प्राप्त दुःख-फलका नाश करनेके लिये अशोकनन्दी-का जन्म हुआ था, इसीसे यह अनर्थक कष्ट और ऐसी अकाल मृत्यु हुई। सत्ययुगके प्रवृत्त होनेमें जिस शक्तिकी आवश्यकता होती है, वह शक्ति उनके शरीरमें अवतीर्ण नहीं थी अवश्य, किन्तु उन्होंने स्वाभाविक योग-शक्ति-प्रकाशका उज्वल दृष्टान्त अवश्य दिखा दिया है। कर्मकी गति ऐसी ही होती है। पुण्यवान लोग अपने पापके फलका नाश करनेके लिए थोड़े समयतक पृथ्वीपर विचरण करते हैं, फिर पापमुक्त होकर दुष्ट शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करके अन्तर्निहित शक्ति-का प्रकाश और जीवोंके हितका सम्पादन करनेके लिये पृथ्वी-पर आते हैं।

जातीय उत्थान

हमारे प्रतिपक्षी अंग्रेजलोग वर्तमान समयके महत् देशव्यापी आन्दोलनको पहलेहीसे द्वेपसे उत्पन्न कहते आ रहे हैं एवं उनके अनुयायी कितने ही भारतवासी भी इन मतकी पुनरावृत्ति करनेमें त्रुटि नहीं कर रहे है। किंतु हम अपने धर्मका प्रचार करनेमें तत्पर हैं; जातीय उत्थान स्वरूप आन्दोलनको धर्म्मका एक प्रधान अंग समझते हैं, इसीसे उसमें शक्ति व्यय कर रहे हैं। यह आन्दोलन यदि द्वेपसे उत्पन्न हुआ होता, तो हमलोग धर्म्मका अंग कहकर कभी भी इसका प्रचार करनेके लिये साहसी न होते। विरोध, युद्ध और हत्या तक धर्म्मका अंग हो सकती है, किन्तु द्वेप और घृणा धर्म्मके बाहर हैं; क्योंकि ये दोनों ही जगत्की क्रमशः उन्नतिके विकाशमें वर्जनीय हैं। अतः जो लोग स्वयम् इन वृत्तियोंका पोषण करते हैं अर्थात् जो स्वयम् द्वेष और घृणा करते हैं अथवा द्वेष और घृणाको जातिमें फैलानेकी चेष्टा करते हैं, वे अज्ञानान्धकारमें पड़कर पापको आश्रय देते हैं। इस आन्दोलनमें कभी भी द्वेष प्रविष्ट नहीं हुआ, सो मैं नहीं कह सकता। यदि एक पक्षवाले द्वेष और घृणा करें, तो दूसरे पक्षवालोंमें भी उसके प्रतिघात

स्वरूप द्वेष और घृणाका उत्पन्न होना अनिवार्य्य है। इस तरहके पापोंको बढ़ानेके लिये बंगालके कई अंग्रेजी समाचार-पत्र और उद्धत-स्वभाववाले अत्याचारी व्यक्तियोंका व्यवहार ही उत्तरदायी है। सम्वाद-पत्रोंमें प्रतिदिन उपेक्षा, घृणा और विद्वेष सूचक तिरस्कार एवं रेलमें, रास्तेमें हाटमें कितनी ही बार गालियाँ, अपमान और मारतक सहन करके अंतमें उपद्रव-सहिष्णु और शांत प्रकृति भारतवासियोंको भी यह असह्य हो गया। अंततः भारतीयोंको भी गालीके बदले गाली और मारके बदले मारका प्रतिदान आरम्भ करना पड़ा। बहुतसे अंग्रेजोंनेभी अपने देशभाइयों (अंग्रेजों) के इस दोष और अशुभ-सृष्टिके दायित्वको स्वीकार किये हैं। इसके सिवा राज-कर्मचारी भी कठिन भ्रमके कारण बहुत दिनोंसे प्रजाके स्वार्थ-विरोधी तथा असंतोष-जनक और हार्दिक आह उत्पन्न करनेवाले कार्य करते आ रहे हैं। मनुष्यका स्वभाव क्रोधसे घिरा हुआ होता है; स्वार्थमें बाधा पड़ने, अनुचित व्यवहार अथवा प्राणसे प्रिय वस्तु या भावपर दौरात्म्य होनेसे वह सब-प्राणियोंमें विद्यमान क्रोधाग्नि जल उठती है; फिर क्रोधके आधिक्य और अन्धगतिके कारण द्वेष और द्वेषसे उत्पन्न आचरण भी उत्पन्न हो जाते हैं। भारतवासियोंके शरीर में बहुत दिनोंसे अंग्रेज व्यक्ति-विशेषोंके अन्यायी आचरण और उद्धत बातों एवं वर्तमान शासन-प्रणालीमें प्रजाका कोई भी प्रकृति अधिकार या क्षमता न रहनेके कारण भीतर ही भीतर असन्तोष अलक्षित

भावसे बढ़ने लगा। अन्तमें लार्ड कर्जनके शासन-कालमें वह असन्तोष तीव्र आकार धारण करके बंग-विच्छेदसे उत्पन्न असह्य मर्म्मवेदनाके कारण असाधारण क्रोध देशभरमें भभक उठा और अधिकारिवर्गकी निग्रह नीतिके कारण वह द्वेषमें परिणत हो गया। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उस समय बहुतसे लोगोंने क्रोधमें अधीर होकर उस द्वेषाग्निके कारण अपनी आहुति भी दी थी। पर ईश्वरकी लीला बड़ी ही विचित्र है। उनकी सृष्टिमें शुभ और अशुभके द्वन्द्वसे जगत्‌की क्रमोन्नति परिचालित एवं प्रायः ही अशुभ, शुभकी सहायता करता और ईश्वरके इच्छित मंगलमय फलको पैदा करता है। यही कारण है कि, वह परम अशुभ जो द्वेषकी सृष्टि था, उसका भी यह शुभ फल हुआ कि तमसाच्छन्न भारतवासियोंमें राजसिक शक्तिके उत्पन्न होनेकी उपयोगी उत्कट राजसिक प्रेरणा उत्पन्न हुई। किन्तु यही कहकर हम अशुभ या अशुभकारियोंकी प्रशंसा नहीं कर सकते हैं, जो लोग राजसिक अहंकारके आवेशमें अशुभ कार्य्य करते हैं, उनके कार्योंद्वारा ईश्वर-निर्दिष्ट शुभफलकी सहायता होती है, कहकर उनका दायित्व और फलभोगरूप बंधन कुछ भी कम नहीं किया जा सकता। जो लोग जातिगत द्वेषका प्रचार करते हैं, वे भूल करते हैं; द्वेषके प्रचारसे जो फल होता है, निःस्वार्थ धर्म-प्रचारसे उसका दसगुना फल होता एवं उससे अधर्म और अधर्मसे उत्पन्न पापफलका भोग न होकर धर्मवृद्धि और अमिश्रित पुण्यकी सृष्टि होती है। हम

जातीय द्वेष और घृणा उत्पन्न करनेवाली बातोंका उल्लेख बिलकुल ही नहीं करेंगे; दूसरोंको भी इस प्रकारके अनर्थकी सृष्टि करनेसे रोकेंगे। जाति-जातिमें स्वार्थ-विरोध होनेसे—अर्थात् यदि एक जातिके स्वार्थ-साधनसे हमारी जातिका स्वार्थनाश हो और हमारी जातिके स्वार्थ-साधनसे दूसरी जातिके स्वार्थका, नाश हो—तथा वर्तमान अवस्थाका अपरिहार्य अंग स्वरूप होने से, हम दूसरी जातिका स्वार्थनाश और अपनी जातिका स्वार्थ-साधन करनेमें कानून और धर्म-नीतिके अधिकारी हैं अत्याचार या अन्याय कार्य होनेपर हमें उसका तीव्र उल्लेख एवं जातीय शक्तिका संघात अर्थात् संगठन और सब तरहके वैध उपायों और वैध प्रतिरोधों द्वारा खंडन करनेके लिए कानून और धर्म-नीतिसे अधिकारी है। कोई भी व्यक्तिविशेष, चाहे वह राज-कर्मचारी हो, अथवा देशवासी ही क्यों न हो, अमंगल-जनक अन्याय और अयौक्तिक कार्य्य अथवा मत प्रकट करनेपर हम सभ्य समाजोचित आचारका अविरोधी तिरस्कार करके उस कार्य अथवा मतका प्रतिवाद और खंडन करनेके अधिकारी हैं। किन्तु किसी भी जाति या व्यक्तिपर द्वेष अथवा घृणाका पोषण अथवा सृजन करनेसे हम उसके अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। हाँ यदि ठीक काम करते हुए इस प्रकारका लाञ्छन लगाया जाय तो बात जुदी है; पर भविष्यमें जिससे वह दोषारोपण भी न किया जा सके, यही हमारा सबलोगों एवं खासकर जातीय समाचार-पत्रों और कार्य्य-कुशल नवयुवकोंके प्रति कथन है।

आर्योंका ज्ञान, आर्योंकी शिक्षा और आर्योंका आदर्श, जड़ ज्ञानवादी तथा राजसिक भोगपरायण पाश्चात्य जातिके ज्ञान, शिक्षा और आदर्शसे बिलकुल स्वतंत्र है। यूरोपियनके मतमें स्वार्थ और सुखकी खोजके अभावमें कर्म अनाचरणीय है—अर्थात् जिस कामके करनेसे स्वार्थ और सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना न हो उसे नहीं करना चाहिये,—द्वेषके अभावमें विरोध और युद्ध होना असम्भव है। चाहे सकाम कर्म करना हो, अथवा कामना-हीन संन्यासी होकर ही क्यों न रहना हो, यही यूरोपियनोंकी धारणा है। जीविकाके लिए संगठनमें जगत् गठित और जगत्‌की क्रमशः उन्नति साधित होती है, यही उनके विज्ञानका मूलमन्त्र है। आर्योंने जिस दिन उत्तर कुरुसे दक्षिणकी ओर यात्रा करके पञ्चनद-(पंजाब) की भूमिमें प्रवेश किया, उसी दिन उन्होंने सनातन शिक्षा प्राप्त करके जगत्‌की इस सनातन स्थापनाको भी जान लिया कि, यह विश्व आनन्द-गृह है, प्रेम, सत्य और शक्तिके विकाशके लिए सर्वव्यापी नारायण स्थावर-जङ्गम, मनुष्य-पशु, कीट-पतंग, साधु-पापी, शत्रुमित्र तथा देवता और असुर सबमें प्रकट होकर जगन्मय क्रीड़ा कर रहे हैं। सुख, दुख, पाप, पुण्य, बन्धुत्व, शत्रुत्व, देवत्व और असुरत्व सब क्रीड़ाके लिए है। मित्र-शत्रु सभी क्रीड़ाके सहचर दो भागोंमें विभक्तकर स्वपक्ष और विपक्षकी सृष्टि हुई है आर्यलोग मित्रकी रक्षा तथा शत्रुका नाश करते थे, किन्तु उसमें उनकी आसक्ति नहीं थी। वे सर्वत्र, सब प्राणियोंमें, सब

वस्तुओंमें, सब कामोंमें और सब फलोंमें नारायणको देखकर इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते थे किन्तु इस समभावका यह अर्थ नहीं कि सब परिणाम उनको इष्ट, सबलोग उनके मित्र, सारी घटनाएँ उनको सुखदायिनी, सब कर्म उन्हें करने योग्य और सब फल उन्हें वाञ्छनीय थे। बिना सम्पूर्ण योगकी प्राप्ति हुए द्वन्द्व मिटता नहीं, और वह अवस्था बहुत कम लोगोंको प्राप्त होती है; किन्तु आर्य-शिक्षा साधारण आर्योंकी सम्पत्ति है। आर्यलोग इष्ट-साधन और अनिष्टके हटानेमें सचेष्ट रहते थे, किन्तु इष्ट-साधनसे विजयके मदसे मत्त नहीं होते थे और न अनिष्ट-सम्पादनमें भीत ही होते थे। मित्रका साहाय्य और शत्रुकी पराजय उनकी चेष्टाका उद्देश्य होता था, किन्तु वे शत्रुसे द्वेष और मित्रका अन्याय पक्षपात कभी नहीं करते थे। आर्यलोग कर्त्तव्यके अनुरोधसे स्वजनोंका संहार भी करते थे और विपत्तियोंके प्राणकी रक्षाके लिये प्राणत्याग भी करते थे। सुख उनको प्रिय और दुःख उनको अप्रिय अवश्य होता था, किन्तु न तो वे सुखमें अधीर ही होते थे और न दुखमें धैर्य और प्रीतिके भावसे डिगते ही थे। वे पापको हटाते और पुण्यका संचय करते थे, किन्तु पुण्य-कर्ममें गर्वित और पापमें पतित-होनेसे बालककी तरह रोते नहीं थे वरन् हँसते-हँसते समाजसे उठकर शरीर-शुद्धि करके फिर आत्मोन्नति करनेमें सचेष्ट हो जाते थे आर्यलोग कर्मकी सिद्धिके लिए विपुल प्रयास करते

थे. हजारों बार पराजय होनेपर भी विरत नहीं होते थे; किन्तु बाहिर्दृष्टि में कुण्ठित, विमर्ष या विरत होना उनके लिए असम्भव था। अवश्य ही जब कोई योगारूढ़ होकर गुणातीत भावसे कर्म करनेमें समर्थ होता था, तब उनके लिए द्वन्द्वका अंत हो जाता था। जगज्जननी जो कार्य देतीं थीं, वे बिना विचारे वही करते, जो फल वह देतीं, प्रसन्नतापूर्वक उसका भोग करते, स्वयम् कहकर जो कुछ निर्दिष्ट करतीं, उसीको लेकर माताका कार्य साधन करते, निमित्त कहकर जो कुछ दिखातीं उसीके आदेशानुसार दमन या नाश करते थे। बस, यही शिक्षा आर्यशिक्षा है। इस शिक्षामें द्वेष और घृणाको स्थान नहीं है। नारायण सब जगह हैं। किससे द्वेष करेंगे और किससे घृणा करेंगे? हम यदि पाश्चात्य भावसे राजनीतिक आन्दोलन करें, तो द्वेष और घृणा अनिवार्य है एवं पाश्चात्योंके मतसे निन्दनीय भी नहीं है, क्योंकि स्वार्थका विरोध है, एक पक्षका उत्थान और दूसरे पक्षका पतन है; किन्तु हमारा उत्थान केवल आर्य-जातिका उत्थान नहीं, वरन् आर्य-चारित्र, आर्य-शिक्षा और आर्य-धर्मका उत्थान है। आन्दोलनकी पहली अवस्थामें पाश्चात्य राजनीतिका प्रभाव बड़ा प्रबल था, फिर भी आर्याभिमानके तीव्र अनुभवसे धर्म-प्रधान दूसरी अवस्था प्रस्तुत हो गयी है। राजनीति धर्मका अंग है, किन्तु उसका आर्य-भाव और आर्य-धर्मके अनुमोदित उपायोंसे आचरण करना चाहिये। हम अपने भविष्यके आशा-स्वरूप युवक-सम्प्रदायसे कहते

है कि यदि तुम्हारे हृदयमें द्वेष हो, तो शीघ्र उसे दूर करो। क्योंकि विद्वेषकी तीव्र उत्तेजनामें क्षणिक राजसिक बल जागृत होता है और शीघ्र नष्ट हो दुर्बलतामें परिणत हो जाता है। जो लोग देशके उद्धारके लिए प्रतिज्ञा-बद्ध और प्राण समर्पण कर चुके हों, उन लोगोंमें प्रबल भ्रातृ-भाव, कठोर उद्यम, लोहेके समान दृढ़ता और जलती हुई आग के समान तेजका संचार होना आवश्यक है। यह निश्चय है कि उसी शक्तिसे हमारा बिखरा हुआ बल जुड़ेगा और हम बहुत दिनोंके लिए विजयी होंगे।

न्यारेकी समस्या

रतवर्षके शिक्षित साम्प्रदायपर प्रायः सौ वर्षोंसे पश्चिमी भावोंका पूर्ण आधिपत्य होनेके कारण वे आर्य-ज्ञान और आर्य-भाव से वंचित होकर शक्ति-हीन, पराश्रय-प्रवण, तथा अनुकरण-प्रिय हो गये थे। इन्हीं तामसिक भावोंका इस समय नाश हो रहा है। इन भावोंकी उत्पत्ति क्यों हुई, एक बार उसकी मीमांसा करना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी-में तामसिक अज्ञान और घोर राजसिक प्रवृत्ति भारत-वासियों-को निगल गई थी, देशमें हजारों स्वार्थ-परायण, कर्तव्य-विमुख देश-द्रोही, शक्ति-सम्पन्न तथा आसुरी प्रकृतिके लोगोंने जन्म ग्रहण करके पराधीनता के अनुकूल समय प्रस्तुत कर दिया था। भगवानके गूढ़ रहस्यका सम्पादन करनेके लिये उसी समयमें द्वीपान्तरवासी (विदेशी) अंग्रेज व्यवसायियोंका भारतमें आगमन हुआ। पापके भारसे व्याकुल भारतवर्ष अना-यास ही विदेशियोंके हस्तगत हो गया। इस अद्भुत काण्डको देखकर इस समय भी संसार आश्चर्यान्वित है। इसकी कोई भी संतोषजनक मीमांसा न कर सकनेके कारण सबलोग अंग्रेज-जातिके गुणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि

अंग्रेज-जातिमें अनन्त गुण हैं, न होनेसे वह पृथ्वीकी श्रेष्ठ दिग्विजयी जातिपर अधिकार न कर सकती। किन्तु जो लोग कहते हैं कि भारतवासियोंकी निकृष्टता, अंग्रेजोंकी श्रेष्ठता, भारतवासियोंका पाप और अंग्रेजोंका पुण्य ही इस अद्भुत घटनाका एकमात्र कारण है, वे पूर्ण भ्रान्त न होते हुए भी लोगोंके मनमें कई भ्रान्त धारणायें उत्पन्न करते हैं। अतएव इस विषयकी सूक्ष्म अनुसन्धानपूर्वक निर्मूल मीमांसा करनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। क्योंकि बिना अतीतकी सूक्ष्म खोज किये भविष्यकी जातिका निर्णय करना दु:साध्य है।

अंग्रेजोंका भारतपर विजय करना संसारके इतिहासमें अतुलनीय घटना है। यह विशाल देश (भारत) यदि असभ्य, दुर्बल या अज्ञ और असमर्थ जातिका निवास-स्थान होता, तो इस तरहकी बात न कही जाती। किन्तु भारतवर्ष राजपूत, मराठा, सिख, पठान, और मुगल प्रभृति वीरोंका निवास-स्थान एवं तीक्ष्ण बुद्धि बंगाली, चिन्ताशील मद्रासी तथा राजनीतिज्ञ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भारतमाताकी संतान हैं। अंग्रेजोंकी विजयके समय नानाफड़नवीसके समान विचक्षण राजनीति-ज्ञाता, माधोजी सिन्धियाके सदृश युद्ध-विशारद सेनापति तथा हैदरअली और रणजीतसिंहके समान तेजस्वी और प्रतिभाशाली राज्य-निर्माता व्यक्तियोंने इस देशके प्रत्येक प्रान्तमें जन्म ग्रहण किये थे। अठारहवीं शताब्दीमें भारतवासी तेजमें, शौर्यमें, तथा बुद्धिमें किसी भी जातिकी अपेक्षा कम नहीं थे।

अठारहवीं शताब्दीका भारत सरस्वतीका मंदिर, लक्ष्मीका भण्डार और शक्तिका क्रीड़ा-स्थान था। पर जिस देशको प्रबल और वर्द्धन-शील मुसलमान लोग सैकड़ों वर्षोंके पूर्ण प्रयास और अत्यन्त कष्टसे जीतकर कभी भी उसपर निर्विघ्न शासन नहीं कर सके, उसी देशने पचास वर्षके भीतर अनायास ही मुट्ठीभर अंग्रेज व्यापारियोंका आधिपत्य स्वीकार कर लिया; वही देश सौ वर्षमें ही अंग्रेजोंके एकच्छत्र साम्राज्यकी छाया-में निश्चेष्ट भावसे निद्रित भी हो गया! कहोगे कि एकताका अभाव इस परिणामका कारण है। मैंने स्वीकार किया कि अवश्यमेव एकताका अभाव हमारी दुर्गतिका एक प्रधान कारण है; किन्तु भारतवर्षमें किसी भी समय एकता नहीं थी। न तो महाभारतके समयमें ही एकता थी और न चन्द्र-गुप्त तथा अशोक के समयमें ही थी। मुसलमानोंके शासन-काल-में भी एकता नहीं थी और न अठारहवीं शताब्दीमें ही एकता थी। इसलिये एकताका अभाव इस अद्भुत घटनाका एकमात्र कारण नहीं हो सकता। यदि कहो, अँग्रेजोंका पुण्य इसका कारण है, तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिन्हें उस समयका इतिहास ज्ञात है, क्या वे यह कहनेके लिये साहस करेंगे कि उस समयके अंग्रेज व्यापारी उस समयके भारतवासियोंकी अपेक्षा गुण और पुण्यमें श्रेष्ठ थे? जिन क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स प्रमुख अफसरोंने भारत-भूमिको जीत और लूटकर जगतमें अतुलनीय साहस, उद्यम और दुरात्माभिमान एवं

अतुलनीय दुर्गुणोंके जगत्में अपनेको दृष्टान्त बना गये हैं, उन निष्ठुर, स्वार्थ-परायण, अर्थ-लोलुप, शक्ति-सम्पन्न राक्षसोंकी बातें सुननेपर हँसीका रोकना दुष्कर हो जाता है। साहस, उद्यम और दुरात्माभिमान असुरोंका गुण और असुरोंका पुण्य है, और वही पुण्य क्लाइव प्रभृति अंग्रेजोंका था। किन्तु उनका पाप भारतवासियोंके पापकी अपेक्षा जरा भी कम नहीं था। अतएव यह कहना कि इस आश्चर्यजनक कार्यके होनेका कारण अंग्रेजोंका पुण्य है, उचित नहीं।

अंग्रेज भी असुर थे और भारतवासी भी असुर थे, ऐसा कहनेसे देव और असुरमें युद्ध नहीं होता, बल्कि असुर असुर-में युद्ध होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पाश्चात्य असुरों-में ऐसा कौनसा महान गुण था, जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि सफल हुई, और भारतवासी असुरोंमें ऐसा कौनसा सांघातिक दोष था जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि विफल हुई? इस प्रश्नका पहला उत्तर यह है कि, भारतवासी और सब गुणोंमें अंग्रेजोंके समान होते हुए भी जातीय-भाव रहित थे, और अंग्रेजोंमें उस गुणका पूर्ण विकास था। इस बातसे कोई यह न समझे कि, अंग्रेजलोग स्वदेश-प्रेमी थे, स्वदेश-प्रेमकी प्रेरणासे वे भारतमें बहुत बड़ा साम्राज्य-गठन करनेमें समर्थ हुए थे। स्वदेश-प्रेम और जातीय-भाव दोनोंकी स्वतंत्र वृत्तियाँ हैं। स्वदेश-प्रेमी अपने देशकी सेवाके भावमें उन्मत्त, सब जगह अपने देशके हितका ध्यान रखता

अपने सब कार्योंको स्वदेशको इष्टदेवता समझ यज्ञरूपसे अर्पण करके देशकी भलाईके लिये करता और देशके स्वार्थको ही अपना स्वार्थ समझता है। पर अठारहवीं शताब्दीके अँग्रेजोंका यह भाव नहीं था; यह भाव किसी भी जड़वादी पाश्चात्य जातिके हृदयमें स्थायी रूपसे नहीं था। अँग्रेजलोग स्वदेशके हितके लिये भारतमें नहीं आये थे, और न उन्होंने स्वदेश-हितार्थ भारतको जीता ही था, वे तो वाणिज्यके लिये, अपने अपने आर्थिक लाभके लिये भारतमें आये थे; उन्होंने स्वदेश की भलाईके लिये भारतको विजय नहीं किया था; बल्कि बहुत से अँग्रेजोंने अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये जीता था। किन्तु स्वदेश-प्रेमी न होते हुए भी जातीय भावापन्न थे। हमारा देश श्रेष्ठ है, हमारी जातिका आचार विचार, धर्म, चरित्र, नीति, बल, विक्रम, बुद्धि, मत और कर्मोत्कृष्टता तुलना-रहित है एवं दूसरी जातिके लिये दुर्लभ है, यह अभिमान है; हमारे देशके हितमें ही हमारा हित है, हमारे देशके गौरवमें ही हमारा गौरव है तथा हमारे देशभाइयोंकी वृद्धिमें ही हमारी वृद्धि है, यह विश्वास है; केवल अपना स्वार्थ साधन न करके उसके साथ देशका स्वार्थ-सम्पादन करना, देशके मान, गौरव और वृद्धिके लिये युद्ध करना प्रत्येक देशवासीका कर्त्तव्य है तथा आवश्यकता पड़नेपर उस युद्धमें निर्भीकता पूर्वक प्राण विसर्जन करना वीरोंका धर्म है, यह कर्तव्य-बुद्धि जातीय भावका प्रधान लक्षण है। जातीय भाव राजसिक भाव

है और स्वदेश-प्रेम सात्विक भाव है। अपने "अहं" और देश-के "अहं" का जो लोग त्याग कर सकते हैं, वे ही आदर्श देश-प्रेमी हैं और जो अपने सम्पूर्ण अहंको पृथक् रख उसके द्वारा देशका अहं बढ़ाते हैं, वे जातीय भावापन्न हैं; उस समयके भारतवासी जातीय भावसे शून्य थे। वे कभी भी जातिका हित नहीं देखते थे, सो बात नहीं कही जा सकती, किन्तु जातिके और अपने हितमें लेशमात्र विरोध होनेसे प्रायः जातिके हितकी क्षति भी करके अपना हित-सम्पादन वे अवश्य करते थे। एकता-के अभावकी अपेक्षा जातीयताका अभाव हमारे विचारसे विशेष नाशकारक दोष है। देशभरमें पूर्ण जातीय भाव व्याप्त होने से इन नाना प्रकारके भेदोंसे परिपूर्ण देशमें भी एकताका होना सम्भव है, केवल एकता चाहिये, एकता चाहिये—कहनेसे एकता साधित नहीं होती। यही अंग्रेजोंके भारत-विजयका प्रधान कारण है। असुरों असुरोंमें संघर्ष होनेसे ही जातीय भावा-पन्न और एकता-प्राप्त असुरोंने जातीयता-शून्य और एकतारहित समान गुण-विशिष्ट असुरोंको पराजित किया। विधाताका यह नियम है कि जो दक्ष और शक्तिमान होता है, वही कुस्ती (लड़ने) में जीतता है; जो तीव्र गतिवाला और सहिष्णु होता है, वही दौड़में निश्चित स्थानपर पहले पहुँचता है। सच्चरित्र या पुण्यवान होनेसे कोई दौड़ या कुस्तीमें जयी नहीं होता, वरन् जयी होनेके लिये उपयुक्त शक्तिका होना आवश्यक है। इसी तरह जातीय भावके विकाशसे दुश्चरित्र और आसुरिक

जाति भी साम्राज्य स्थापन करनेमें समर्थ होती है, और जातीय भावसे रहित सच्चरित्र तथा गुण-सम्पन्न जाति भी पराधीन हो अन्तमें अपने चरित्र और गुणको खोकर अधोगति-को प्राप्त होती है।

राजनीतिकी ओर देखनेसे यही भारतके विजयकी श्रेष्ठ मीमांसा है; किन्तु इसमें और भी गम्भीर सत्य स्थापित है। कहा जा चुका कि, तामसिक अज्ञान और राजसिक प्रवृत्तिकी भारतमें बहुत प्रबलता हो गयी थी। यह अवस्था पतनके पहलेकी अवस्था थी। रजोगुणी सेवामें राजसिक शक्तिका विकाश होता है, किन्तु केवल रज शीघ्र ही तमोमुखी हो जाता है और उद्धत बन्धन-रहित चेष्टा बहुत जल्द अवसन्न और शान्त होकर अप्रवृत्ति, हीनता, विषाद और निश्चेष्टतामें परि-णत हो जाती है। सत्वमुखी होनेपर ही रजोशक्ति स्थायी होती है। सात्त्विक भाव न भी होनेसे, सात्विक आदर्शका होना आवश्यक है; उसी आदर्शद्वारा रजोशक्ति श्रृंखलित होती और स्थायी बल प्राप्त होता है। स्वाधीनता और सुश्रृंखलता ये दोनों महान आदर्श अँगरेजोंमें बहुत दिनोंसे थे, और इन्हींके बलसे अँगरेजलोग जगत्‌में प्रधान और दीर्घ विजयी हुये। उन्नीसवीं शताब्दीमें परोपकारकी इच्छा भी जातियोंमें जागृत हुई थी, उसके बलसे इंगलैंड जातीय महत्वकी अन्तिम अव-स्थामें जा पहुँचा था।

यूरोपमें जिस ज्ञान-तृष्णाकी प्रबल प्रेरणासे पाश्चात्य जाति-

ने सैकड़ों वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं और जरासे ज्ञानकी लालचसे सैकड़ों मनुष्य प्राणतक देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, वही बलीयसी सात्विक ज्ञान-तृष्णा अंगरेज जातिमें विकशित थी। इसी सात्विक शक्तिसे अंगरेजलोग बलवान थे और इसी सात्विक शक्तिके अवक्षीण होते जानेसे अंगरेजोंका प्राधान्य तेज और विक्रम क्षीण होनेका भय, विषाद और आत्म-शक्तिपर अविश्वास होता जा रहा है। दूसरी ओर भारतवर्ष-के लोग महान सात्विक जातिके थे, उसी सात्विक बलसे ही ज्ञान शौर्य और तेजबलमें अद्वितीय हो गये थे एवं एकता-रहित होनेपर भी हजारों वर्षतक विदेशियोंके आक्रमणको रोकने और उनका नाश करनेमें समर्थ थे। अन्तमें रजोगुणकी वृद्धि और सतोगुणका ह्रास होने लगा। मुसलमानोंके आग-मन कालमें ज्ञानके विस्तारका संकुचित होना आरम्भ हो गया था, उस समय रजोगुण-प्रधान राजपूत जाति भारतके राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ थी; उत्तर भारतमें युद्ध-विग्रह आत्म-कलहका प्राधान्य और बङ्गदेशमें बौद्धधर्मकी अवनतिमें ताम-सिक भाव प्रबल था। अध्यात्म-ज्ञानने दक्षिण भारतमें आश्रय लिया था, अतः उसी सत्वबलके प्रभावमें दक्षिण भारत बहुत दिनोंतक स्वाधीनताकी रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था। फलतः ज्ञान-तृष्णा एवं ज्ञानकी उन्नति रुकने लगी और उसके स्थानमें पाण्डित्यका मान और गौरव बढ़ने लगा; आध्यात्मिक ज्ञान, यौगिक शक्तिका विकाश और भीतरी (आन्तरिक) उन्नतिके

स्थानमें तामसिक पूजा और सकाम राजसिक व्रतोद्यापनका बाहुल्य होने लगा; वर्णाश्रम धर्म लुप्त होनेसे लोगोंने बाहरी आचार और क्रियाओंको अधिक मूल्यवान समझना आरम्भ किया। इसी प्रकार जाति-धर्मके लोप होनेसे ही ग्रीस, रोम मिश्र और आष्ट्रियाका पतन हुआ था, किन्तु सनातन धर्माव- लम्बी आर्य-जातिमें उस सनातन प्रस्रवणसे बीच-बीचमें सञ्जी- वनी अमृतधारा छूटकर जातिकी प्राणरक्षा करती थी। शंकर, रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास, तुकारामने उसी अमृतसे सींचकर मरणाहत भारतमें प्राणका संचार किया था। किन्तु रज और तमके स्रोतकी उस समय ऐसी शक्ति थी कि उसके खिंचावसे उत्तम भी अधममें परिणत हो गया, साधारण लोग शंकर-प्रदत्त ज्ञानद्वारा तामसिक भावोंका समर्थन करने लगे, चैतन्यका प्रेम-धर्म घोर तामसिक निश्चेष्टताके आश्रयमें परिणत होने लगा और रामदासकी शिक्षा पाये हुए महाराष्ट्रीयोंने अपने महाराष्ट्र धर्मको भूलकर स्वार्थ-साधन और आत्म-कलहमें शक्ति- का व्यवहारकर शिवाजी और बाजीरावका स्थापित किया हुआ साम्राज्य नष्ट कर दिया। अठारहवीं शताब्दीमें इस स्रोतकी पूरी तेजी देखी गयी थी। उस समय समाज और धर्म कुछ लोगोंमें आधुनिक विधान-कर्त्ताओंकी क्षुद्र गाँठमें आबद्ध, बाहरी आचार और क्रियाका आडम्बर धर्मके नामसे स्थित आर्य- ज्ञान लोप, आर्य-चरित्र नष्ट और सनातनधर्म समाजको छोड़कर सन्यासियोंके वनवासमें और भक्तोंके हृदयमें छिप गया। भारत

उस समय घोर तमान्धकारमें आच्छन्न था और प्रचंड राजसिक प्रवृत्ति बाहरी धर्मके पर्देमें, स्वार्थ, पाप, देशका, अमंगल और दूसरोंका अनिष्ट यथाशक्ति साधन करती थी। देशमें शक्तिका अभाव नहीं था, किन्तु आर्य-धर्म और सत्वके लोप होनेके कारण आत्म-रक्षामें असमर्थ उस शक्तिने आत्म-नाश कर दिया। अंतमें अंगरेजोंकी आसुरिक शक्तिसे पराजित होकर भारतकी आसुरिक शक्ति शृंखलित और कैद हो गया। भारत पूर्ण तमोभावके आवेशमें निद्रित हो गया। तेज हीनता, अप्रवृत्ति अज्ञान, अकर्मण्यता, दूसरे धर्मकी सेवा, दूसरोंका अनुकरण, आत्मविश्वासका अभाव, आत्म-सम्मानका नाश, दासत्व-प्रियता, दूसरेके आश्रयमें आत्मोन्नतिकी चेष्टा, विषाद, आत्म-निन्दा, क्षुद्राशयता, आलस्य इत्यादि सभी तमोभाव-सूचक गुण हैं। इन सभोंमेंसे उन्नीसवीं शताब्दीके भारतमें किसका अभाव था? उस शताब्दीकी सारी चेष्टाएँ उन सब गुणोंकी प्रबलतासे तामसी शक्तिके चिह्न सब जगह दिखायी पड़ते हैं।

परमात्माने भारतको जिस समय जगाया, उस समय उस जागरणके पहले आवेशसे जातीय भावके उद्दीपनकी ज्वालामयी शक्ति जातिके ऊपर ऊपर खरतर वेगसे प्रज्वलित होने लगी, साथ ही उन्होंने स्वदेश-प्रेमका नशा भी युवकोंमें उत्पन्न किया। हम पाश्चात्य जातिके नहीं हैं; हम एशियावासी, भारतवासी और आर्य हैं। हमलोगोंमें जातीय भाव है, किन्तु उसमें स्वदेश-प्रेमका संचार न होनेके कारण हमारा जातीय भाव

परिस्फुट नहीं हो रहा है। उस स्वदेश-प्रेमकी दीवार है मातृ-पूजा। जिस समय बंकिमचन्द्रके "वन्देमातरम्" गानने बाह्येन्द्रियोंको लांघ करके प्राणमें आघात किया, उस दिन हम-लोगोंके हृदयमें स्वदेशप्रेम जाग उठा और माताकी दिव्य मूर्ति हृदयमें बैठ गयी। स्वदेश माता और स्वदेश भगवान, यही वेदान्त-शिक्षाके भीतर प्रधान शिक्षा जातीय-उत्थानके बीज स्वरूप हैं। जिस तरह जीव परमात्माका अंश और उसकी शक्ति परमात्माकी शक्तिका अंश है, उसी तरह ये सात करोड़ बंगवासी, तीस करोड़ भारतवासियोंके अंश हैं। उसी तीस करोड़को आश्रय देनेवाली-शक्ति-स्वरूपिणी अनन्त भुजान्विता, विपुल-बल-शालिनी भारत-जननी परमात्माकी एक शक्ति, माता देवी, जगज्जननी काली ही हैं, केवल रूप-विशेषका अंतर है। इस मातृ-प्रेम और मातृ-मूर्त्तिको जातिके मनमें प्राणमें जागरित और स्थापित करनेके लिये इधर कई वर्षोंकी उत्तेजना, उद्यम, कोलाहल, अपमान, और लाञ्छना सहन करना परमात्मा के विधानमें विहित था। यह कार्य अब सम्पन्न हो गया है। पश्चात् क्या होगा?

पश्चात् आर्य जातिकी पुरानी शक्तिका पुनरुद्धार होगा। प्रथम आर्य-चरित्र और शिक्षा, द्वितीय यौगिक-शक्तिका संचार और तृतीय आर्योंके योग्य ज्ञान-तृष्णा और कर्म-शक्तिद्वारा नवयुवकों की आवश्यक सामग्रीका संचय एवं इधर कई वर्षोंकी उन्मादिनी उत्तेजनाको श्रृङ्खलित और असली उद्देश्यको सामने कर

के मातृ-भूमिके कार्यका उद्धार करना आवश्यक है। इस समय जो सब नवयुवक देश भरमें राहकी खोज और कर्मकी खोज कर रहे हैं, उन्हें चाहिये कि सबसे पहले अपने में शक्ति काफी पैदा करें जो महान कार्य करना होगा, वह केवल उत्तेजना द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता; उसके लिये शक्ति चाहिये। पूर्व पुरुषोंकी शिक्षासे जिस शक्तिके होनेकी आवश्यकता है, उसी शक्तिकी जरूरत है, वही शक्ति युवकोंमें आनी चाहिये। वही शक्ति माता है। माताके लिये आत्म-समर्पण करनेका उपाय सीखना चाहिये। माँके कार्योंको ऐसी निर्भीकतासे करना है कि उसे देखकर संसार चकित हो जाय। उस शक्तिके अभाव-से हमलोगोंकी सारी चेष्टायें विफल होंगी। मातृ-मूर्त्ति आपके और हमारे हृदयमें स्थित है; हमने मातृ-पूजा और मातृ-सेवा करनी सीखी है; अन्तर्निहित माताके लिये अब आत्म-समर्पण करना है कार्योद्धारके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

स्वाधीनताका अर्थ

मारी राजनीतिक चेष्टाका उद्देश्य स्वाधीनता है; किन्तु स्वाधीनता क्या है, इसपर लोगोंके विचार भिन्नभिन्न तरहके हैं, स्वाधीनताका अर्थ बहुतसे लोग स्वायत्त शासन कहते हैं, बहुतसे लोग औपनिवेशिक स्वराज्य कहते हैं और बहुतसे लोग पूर्ण स्वराज्य कहते हैं। आर्य ऋषिलोग पूर्ण व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता एवं उसके फल स्वरूप अक्षुण्ण आनन्दको स्वराज्य कहते थे। राजनीतिक स्वाधीनता स्वराज्यका एकमात्र अङ्ग है—उसके दो भेद हैं, बाह्यिक स्वाधीनता और आन्तरिक स्वाधीनता। विदेशियोंके शासनसे पूर्ण मुक्ति बाह्यिक (बाहरी) स्वाधीनता है, और प्रजातन्त्र आन्तरिक स्वाधीनताका अन्तिम विकाश है। जबतक दूसरेका शासन या राजत्व रहता है, जबतक किसी जातिको स्वराज्य-प्राप्त जाति नहीं कहा जाता। तबतक प्रजातन्त्र स्थापित नहीं होता, तबतक जातिके अन्तर्गत प्रजाको स्वाधीन मनुष्य नहीं कहा जाता। हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिये। हम विदेशियोंके आदेश और बन्धनसे पूर्ण मुक्ति तथा अपने घरमें अपना पूर्ण आधिपत्य चाहते हैं; बस यही हमारा राजनीतिक लक्ष्य है।

अब हम संक्षेपमें इस आकांक्षाका कारण बतलायँगे। जातिके लिये पराधीनता दूत और आज्ञाकारी (नौकर) है, स्वाधीनतासे ही जीवनकी रक्षा और उन्नतिकी सम्भावना है; स्वधर्म अर्थात् जातीय कर्म और चेष्टा ही जातीय उन्नतिका एकमात्र मार्ग है। विदेशी यदि देशपर अधिकार करके अत्यन्त दयालु और हितैषी भी हों, तोभी हमें दूसरे धर्मका बोझ बिना दबाये न छोड़ेगा। उसका उद्देश्य अच्छा हो अथवा बुरा, किन्तु उससे हमारा अहित छोड़ हित नहीं हो सकता। दूसरोंके स्वभाव-नियत मार्गमें बढ़नेकी शक्ति और प्रेरणा हमारी नहीं; उस मार्गमें जानेसे हम खूब अच्छी तरहसें दूसरोंका अनुकरण कर सकते हैं, दूसरोंकी उन्नतिके लक्षण और वेशभूषामें बड़ी दक्षता के साथ अपनी की हुई अवनतिको ढँक सकते हैं, किन्तु परीक्षाके समयमें हम अपने दूसरे धर्मकी सेवासे उत्पन्न दुर्बलता और असारता ही पायेंगे। उस असारके फलसे हमारा भी नाश हो जायगा। रोमका आधिपत्य इसका उदाहरण है। रोमकी सभ्यता प्राप्त करके प्रधान सारी यूरोपीय जातिने बहुत दिनोंतक स्वच्छन्दतासे सुख किया अवश्य, किन्तु उसकी अन्तिम अवस्था बड़ी भयानक हो गयी। मनुष्यत्वके नाश होनेसें उसकी जो घोर दुर्दशा हुई, प्रत्येक पराधीनता-परायण जातिकी उसी घोर दुर्दशाका होना और उसकी मनुष्यताका नाश होना अवश्यम्भावी है। पराधीनताकी खास नींव अपने धर्मका नाश और दूसरेके धर्मकी सेवा करनेसें पड़ती है। यदि

कोई देश पराधीन अवस्थामें अपने धर्मकी रक्षा करे या उसे पुनर्जीवित कर सके तो पराधीनताका बन्धन अपने आप टूट जायगा,—यह अवाञ्छनीय प्राकृतिक नियम है। अतएव कोई भी जाति यदि अपने दोषसे पराधीन हो जाय, तो अविकल और पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना उसका पहला उद्देश्य और राजनीतिक आदर्श होना उचित है।

औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन-स्वराज नहीं। हाँ यदि बिना शर्त्तके पूर्ण अधिकार मिल जाय, एवं जातिका आदर्श और अपना धर्म भ्रष्ट न हो, तो स्वराज्यका अनुकूल और पूर्ववर्त्ती समय अवश्य हो सकता है। यहाँ एक बात और उत्पन्न होती है कि, बृटिश साम्राज्यके बाहर स्वाधीनताकी आशा करना धृष्टताका परिचायक और राजद्रोह-सूचक है। जो लोग औपनिवेशिक स्वायत्त-शासनसे सन्तुष्ट नहीं हैं, वे निश्चय राजद्रोही, राष्ट्रमें विप्लव करनेवाले और सब तरहसे राजनीतिक कामोंमें भाग लेनेसे रोके जाने योग्य हैं। किन्तु इस तरहके आदर्शसे राजद्रोहका कोई सम्बन्ध नहीं है। अंग्रेजी शासनके आरम्भ कालसे ही बड़े-बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञ कहते आ रहे हैं कि इस तरहकी स्वाधीनताके लिये अंग्रेज राजपुरुषोंका भी लक्ष्य है; आज भी विचारवान अंग्रेज मुक्तकण्ठसे कह रहे हैं कि स्वाधीनताके आदर्शका प्रचार और स्वाधीनताकी प्राप्ति वैध चेष्टा कानून-संगत और दोष-शून्य है! पर हमारी स्वाधीनता बृटिश साम्राज्यके भीतर होगी या बाहर, इस प्रश्नकी मीमांसा

करनेके लिये जातीय पक्ष कभी आवश्यक नहीं कहता। हमें पूर्ण स्वाराज्य चाहिये यदि वृटिश जाति ऐसे मिश्रित साम्राज्यकी व्यवस्था करे कि उसकी छत्रछायामें रहते हुए भारतवासियोंका वैसा स्वराज्य सम्भव हो, तो आपत्ति ही क्या है? क्योंकि हम अंग्रेज जातिके द्वेषसे तो स्वराज्यकी चेष्टा कर नहीं रहे हैं, देशकी रक्षाके लिये कर रहे हैं; पर हम पूर्ण स्वराज्यके सिवा दूसरे आदर्श द्वारा देशवासियोंको मिथ्या राजनीति और देश-रक्षाके रद्दी मार्गको दिखानेके लिये प्रस्तुत कदापि नहीं; इसीलिये कांग्रेस क्रीडमें जातीय पक्षकी आपत्ति की गयी थी।

देश और जातीयता

देश, जातीयताकी स्थापना है, न तो वह जातिही है और न धर्म ही; केवल देश है। सब जातीयताका उपकरण गौण और उपकारी है। देश ही मुख्य और आवश्यक है। ऐसी बहुतसी परस्पर विरोधी जातियाँ एक देशमें विकाश करती आ रही हैं जिनमें सद्भाव, एकता और मैत्री नहीं है। किन्तु इससे क्या? जबकि एक देश और एक माता है, तो किसी न किसी दिन एकता निश्चय ही होगी। बहुतसी जातियोंके मिलनेसे एक बलवान

जाति निश्चय ही होगी। यद्यपि धर्म मत एक नहीं हैं, सम्प्रदाय-सम्प्रदायमें वस्तुत बड़ा विरोध है, मेल नहीं है, मिलनेकी आशा भी नहीं है, तथापि कुछ चिन्ता नहीं, एक दिन स्वदेश मूर्त्ति-धारिणी माताके प्रबल खिंचावमें छल, बल, साम, दंड, दामसे मेल होना ही पड़ेगा, और साम्प्रदायिक विभिन्नताको भ्रातृ-प्रेम और मातृ-प्रेममें निश्चय ही डूबना पड़ेगा। यद्यपि एक देशमें अनन्त भाषाएँ होनेके कारण भाई-भाईकी बात समझनेमें असमर्थ है; दूसरेके भावमें प्रवेश नहीं है, एक हृदयको दूसरे हृदयसे आबद्ध होनेके मार्गमें सुदृढ़ और अभेद्य पड़ी हुई प्राचीरको विशेष कठिनाईसे डाँकना है, तथापि कुछ डर नहीं। एक देश, एक जीवन और एक चिन्ताका स्रोत सबके मनमें, आवश्यकताकी प्रेरणासे साधारण भाषा निश्चय उत्पन्न करेगा। या तो वर्त्तमान एक भाषाका अधिपत्य ही स्वीकृत होगा, नहीं तो एक ऐसी नयी भाषाकी ही उत्पत्ति होगी, जिसका माताके मन्दिरमें सबलोग व्यवहार करेंगे। ये सारी बाधायें अधिक दिनोंतक नहीं टिक सकतीं; माताकी आवश्य-कता, माताकी टान (खींच) माताकी हार्दिक वासना विफल नहीं हो सकती। वह वासना सब बाधाओं और विरोधोंको दूर करके जयी होती है। जब एक माताके पेटसे हम सभों-का जन्म हुआ है, एक माताकी गोदमें निवास है तथा एक ही माताके पंचभूतोंमें मिल जाते हैं, अर्थात् जब शरीर त्यागनेपर सबको पांच भौतिक शरीरका—जो पृथ्वीका भाग है

वह पृथ्वीमें, जो जलका भाग है वह जलमें, जो अग्निका भाग है वह अग्निमें जो वायुका भाग है वह वायुमें और जो आकाशका भाग है वह आकाशमें मिल जाता है,—तब भीतरी हज़ारों विवाद होते हुए भी सबको माताकी पुकार सुननी ही होगी। प्राकृतिक नियम यही है और सब देशोंके इतिहासोंकी शिक्षा भी यही है कि देश, जातीयताकी स्थापना है। देश और जातिका यह सम्बन्ध व्यर्थ नहीं है, स्वदेश होनेसे जाति आवश्यम्भावी है। एक देशमें दो जातियाँ अधिक दिनोंतक बिना मिले नहीं रह सकतीं; दूसरे, एक देश न होनेसे; जाति, धर्म और भाषा चाहे एकही हो, तोभी उससे कोई भी फल नहीं। एक दिन स्वतंत्र जातिकी उत्पत्ति होगी ही। दो स्वतंत्र देशोंको मिलाकर एक बड़ा साम्राज्य बनाया जा सकता है; किन्तु एक बड़ी जाति नहीं बनायी जा सकती। साम्राज्यका नाश हो जानेसे स्वतंत्र जाति हो जाती है; कई बार वह भीतरी स्वाभाविक स्वतंत्रता ही साम्राज्यके नाशका कारण भी हो चुकी है।

किन्तु यह फल अवश्यम्भावी होते हुए भी मनुष्यकी चेष्टामें, मनुष्यकी बुद्धिमें, या बुद्धिके अभावमें वह अवश्यम्भावी प्राकृतिक क्रिया शीघ्रतासे या विलम्बसे फलवती ज़रूर होती है। हमारे देशमें कहीं भी एकता नहीं है, किन्तु बहुत दिनोंसे एकता की ओर लोगोंका झुकाव है, एकताका संचार भी हो रहा है। हमारा इतिहास भारतकी बिखरी हुई शक्तिको एक करनेके लिये पूर्ण प्रयास कर रहा है। इस प्राकृतिक चेष्टाके कई प्रधान

बाधक थे; पहला बाधक प्रादेशिक विभिन्नता, दूसरा हिन्दू और मुसलमानका पारस्परिक विरोध और तीसरा बाधक था मातृ-दर्शनका अभाव। देशका बड़ा आकार, आने जानेका श्रम और विलम्ब तथा भाषाकी विभिन्नता ही, प्रादेशिक अनैक्यका खास कारण है। पर अब शेषोक्त विघ्न तरह-तरहकी आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओंद्वारा दूर हो गये हैं। हिन्दू और मुसलमानोंमें विरोध होते हुए भी भारतको एक करनेमें अकबर समर्थ हुआ था। यदि औरंगज़ेब निकृष्ट राजनीतिक बुद्धिके वशमें न हुआ होता तो जिस तरह कालके माहात्म्यसे, अभ्यासके वश तथा विदेशियोंके आक्रमणके भयसे इङ्गलैंडमें कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट जातियाँ एक हो गयी थीं, उसी तरह भारतमें हिन्दू और मुसलमान बहुत दिनोंके लिये एक हो गये होते। उनकी बुद्धिके दोषसे इस समय कूट-बुद्धि बहुतसे अंग्रेज राजनीतिज्ञोंकी प्ररोचनामें वह विरोध प्रज्वलित होकर और बढ़ना नहीं चाहता। किन्तु प्रधान विघ्न माताके दर्शनका अभाव है। हमारे राजनीतिक नेता प्रायः ही माताका सम्पूर्ण स्वरूप देखनेमें असमर्थ थे। महाराज रणजीतसिंह या गुरु गोविन्दने भारतमाताको न देखकर पञ्चनद (पञ्जाव) माताको देखा था। अन्यान्य महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञोंने महाराष्ट्र-माताको देखा था। बङ्गाली लोगोंने भी बंगभंगके समय बंग-माताका दर्शन प्राप्त किया है—वह दर्शन अखण्ड दर्शन है। अतएव बंगालकी भावी एकता और उन्नति अवश्यम्भावी है। किन्तु भारतमाताकी

अखण्ड मूर्त्ति अभी तक प्रकट नहीं हुई। हम कांग्रेसमें जिस भारतमाताकी पूजा नाना प्रकारके स्तवस्तोत्रोंसे करते आ रहे थे, वह कल्पित अंग्रेजोंकी सहचरी और प्रियदासी म्लेच्छ वेषभूषासे सज्जित दानवी माया है, वह हमारी माता नहीं। यदि होती तो उसके बाद ही प्रकृति-माता बिलकुल अस्पष्ट देखनेसे लुब्धायित हो हमारा प्राण आकर्षित करती। जिस दिन हमलोग अखण्डस्वरूपा माताकी मूर्तिका दर्शन कर लेंगे, उनके रूप लावण्यमें मुग्ध होकर उनके कार्यमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये उन्मत्त हो जायँगे, उस दिन सारी बाधाएँ अपने आप ही दूर हो जायँगी और भारतकी एकता, स्वाधीनता तथा उन्नति सहज हो जायगी। भाषाके भेदसे भी और बाधा नहीं पड़ेगी, हम सब लोगोंको अपनी-अपनी मातृभाषा रक्षित रखते हुए भी साधारण भाषा रूपमें हिन्दी भाषाको ग्रहण करके उन विघ्नोंको नष्ट करना होगा। तभी हम हिन्दू और मुसलमानके भेदकी भी वास्तविक मीमांसा पैदा कर सकेंगे। बिना माताके दर्शन हुए, बिना उन बाधाओंके नाशकी बलवती इच्छा उत्पन्न हुए, उपाय उत्पन्न नहीं हो रहा है। केवल विरोध ही तीव्र होता जा रहा है। किन्तु अखण्ड स्वरूप चाहिये। यदि हिन्दुओंकी माता हिन्दू जातीयताकी स्थापना कहकर मातृ दर्शनकी आकांक्षा पोषण करें, तो हम उसी पुराने भ्रममें पड़कर जातीयताके पूर्ण विकाशसे वञ्चित ही रहेंगे।

हमारी आशा

हमारी भुजाओंमें बल नहीं, हमारे पास युद्धकी सामग्री नहीं, शिक्षा नहीं; फिर हम किसकी आशा करें? कहाँ वह बल है जिसके भरोसे हमलोग प्रबल शिक्षित यूरोपीय जातिका असाध्य काम साधनेके प्रयासी होंगे? पण्डित और विज्ञ पुरुष-लोग कहते हैं कि, यह बालकोंकी महान दुराशा और ऊँचे आदर्श-के मदमें उन्मत्त विचार-हीन लोगोंका शून्य स्वप्न है। स्वाधीनता प्राप्त करनेका एकमात्र मार्गयुद्ध ही है, पर उसमें हमलोग असमर्थ हैं। माना कि युद्ध करनेमें हमलोग असमर्थ हैं, और हम भी युद्ध करनेकी राय नहीं देते। किन्तु क्या यह सत्य बात है कि केवल बाहुबल ही शक्तिका आधार है अथवा शक्ति और भी किसी गूढ़ गंभीर वस्तुमें है?

यह बात सबलोग स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं कि केवल बाहुबलसे कोई भी बड़ा कार्य संसाधित होना असम्भव है। यदि दो परस्पर विरोधी समान बलशाली शक्तियोंका सामना हो, तो जिसका नैतिक और मानसिक बल अधिक होगा, जिसका ऐक्य, साहस, अध्यवसाय, उत्साह, दृढ़-प्रतिज्ञा और स्वार्थ-त्याग उत्कृष्ट होगा तथा जिसकी विद्या, बुद्धि, चतुरता, तीक्ष्ण-दृष्टि, दूरदर्शिता और उपाय-उद्भावनी शक्ति विकसित होगी, निश्चय उसीकी जय होगी। इस तरह बाहुबल, संख्या

और युद्ध-सामग्री इन तीनोंसे हीन समाज भी नैतिक और मानसिक बलके उत्कर्षसे प्रबलसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वीको हटा सकता है। यह बात मन-गढ़न्त है, सो बात नहीं, इसका प्रमाण इतिहासके पन्ने-पन्नेमें लिखा है। अब इसपर आप यह कह सकते हैं कि, बाहुबलकी अपेक्षा नैतिक और मानसिक बलका गुरुत्व तो है, पर बाहुबलके बिना नैतिकबल और मानसिकबलकी रक्षा कौन करेगा? यह तर्क बिलकुल ठीक है। किन्तु यह भी देखा गया कि दो चिंताप्रणाली, दो सम्प्रदाय और परस्पर-विरोधी सभ्यताका संघर्ष हुआ है और उसमें उस दलकी तो हार हुई है जिसमें बाहुबल, राजशक्ति, युद्ध-सामग्री आदि सब साधन पूर्ण मात्रामें मौजूद थे तथा उस दलकी जीत हुई है जिसमें ये सब साधन आरम्भमें नहीं थे। यह उलटा फल क्यों हुआ? "यतोधर्मस्ततोजयः" अर्थात् जहाँ धर्म है वहाँ जय है। किन्तु धर्मको पहचाननेकी शक्ति होनी चाहिये। अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मका पतन स्थायी नहीं हो सकता।

बिना कारणके कार्य नहीं होता। जयका कारण शक्ति है। किस शक्तिसे निर्बल पक्षवालोंकी जीत और प्रबल पक्षवालोंकी हार होती है, यह बात विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टान्तोंकी परीक्षा करनेपर हम यह बात जान सकेंगे कि, अध्यात्मिक शक्तिके बलसे यह अनहोनी बात हो सकती है। आध्यात्मिक शक्ति ही बाहुबलको कुचलकर मानवजातिको बतलाती है कि, यह जगत् भगवानका राज्य है न कि अन्ध-

स्थूल प्रकृतिका लीलाक्षेत्र। पवित्र आत्मा, शक्तिका प्रसव करती है, अर्थात् पवित्र आत्मासे शक्ति पैदा होती है। जो आद्या प्रकृति आकाशमें दस हज़ार सूर्यको घुमा रही है, जो अँगुली-के छूनेसे पृथिवीको हिलाकर मनुष्योंके उत्पन्न किये हुए पूर्व-गौरवोंके सारे चिह्नोंको ध्वंस कर डालती है, वह आद्या प्रकृति शुद्ध आत्माके आधीन है। वह प्रकृति असम्भवको सम्भव करती, मूक यानी गूंगेको वाचाल करती और पंगुओं-(लंगड़ों) को पहाड़ लाँघनेकी शक्ति देती है। सारा जगत् उसी शक्तिका उत्पन्न किया हुआ है। जिसका आध्यात्मिक बल बढ़ जाता है उसमें जीतनेकी सामग्री स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है, विघ्न बाधाएँ भी अपने आपही हट जातीं, और उपयुक्त समय आ विराजता है; कार्य करनेकी क्षमता भी स्वयं ही उत्पन्न होकर तेजस्विनी हो जाती है। यूरोप आजकल इसी Soul-force (आध्यात्मिक शक्ति) को पैदा करनेमें लगा हुआ है। फिर भी अभी इसमें उसे पूर्ण विश्वास नहीं है और न तो उसके भरोसेपर काम करनेकी उसकी प्रवृत्ति ही है। किन्तु भारतकी शिक्षा, सभ्यता, गौरव, बल और महत्वके मूलमें आध्यात्मिक शक्ति है। जब जब लोगोंको भारतीय महाजातिका विनाशकाल निकट आया जान पड़ा है, तब तब आध्यात्मिक बलने गुप्त रीतिसे उत्पन्न होकर उग्र स्रोतसे प्रवाहित हो मुमुर्षु (मृत्युके निकट पहुँचे हुए) भारतको पुनरुज्जीवित किया है और सारी उपयोगी शक्तियों-को भी पैदा किया है। इस समय भी उस आध्यात्मिक बलका

प्रसवन बन्द नहीं हो गया है, आज भी उस अद्भुत मृत्युञ्जय शक्तिकी क्रीड़ा हो रही है।

किन्तु स्थूल-जगत्‌की सारी शक्तियोंका विकाश समयके अनुसार होता है, अवस्थाके उपयुक्त ही समुद्रमें ज्वार और भाटेका न्यूनाधिक्य होता है। हमलोगोंमें यही हो रहा है। इस समय सम्पूर्ण भाटा है, ज्वारका समय आ रहा है। महापुरुषोंकी तपस्या, स्वार्थ त्यागियोंका कष्ट-सहन, साहसी पुरुषोंका आत्म-समर्पण, योगियोंकी यौगिक-शक्ति, ज्ञानियोंका ज्ञान-संचार और साधुओंकी शुद्धता आदि आध्यात्मिक बलसे उत्पन्न होती हैं। एकबार इन पुण्योंने भारतीय मृत-प्राय जातिको संजीवनी बूटी की तरह जीवित, बलिष्ठ और तेजस्वी कर दिया था। फिर वही तपोबल स्वयं ही निरुद्ध होकर अदम्य और अजेय हो निकल जानेको तैयार हुआ। इधर कई वर्षोंके कष्ट, दुर्बलता और पराजयके फलसे भारतवासी अपनेमें शक्तिको उत्पन्न करनेकी खोज करना सीख रहे हैं। किन्तु वह भाषणकी उत्तेजना, म्लेच्छोंकी दी हुई विद्या, सभासमितिकी भाव-संचारिणी शक्ति और समाचार पत्रोंकी क्षणस्थायी प्रेरणासे नहीं वरन् अपनी आत्माकी विशाल नीरवतामें ईश्वर और जीवके संयोगसे गम्भीर; अविचलित, अभ्रान्त, शुद्ध, दुःख-सुख जयी और पाप-पुण्य-वर्जित शक्तिसे उत्पन्न है। वही महा-सृष्टिकारिणी, महा-प्रलयंकारी, महा-स्थिति-शालिनी, ज्ञानदायिनी महा-सरस्वती, ऐश्वर्य-दायिनी महालक्ष्मी, शक्ति-दायिनी महाकाली है; यही सहस्रों

तेजोंके संयोजनसे एकीभूता चण्डी प्रकट होकर भारतका कल्याण तथा जगत्‌का कल्याण करनेमें सफल होगी। भारतकी स्वाधीनता तो केवल गौण (अप्रधान) उद्देश्य मात्र है। मुख्य उद्देश्य है—भारतकी सभ्यताका शक्ति-दर्शन एवं संसार भरमें उस सभ्यताके प्रचार और अधिकारका होना।

यदि हम पाश्चात्य सभ्यताके बलसे, सभासमितियोंके बल-से; वक्तृताके ज़ोरसे अथवा बाहुबलसे स्वाधीनता या स्वायत्त-शासन प्राप्त कर लें, तो वह मुख्य उद्देश्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यतामें आध्यात्मिक शक्ति है। उस आध्या-त्मिक शक्तिसे आध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न किये हुए सूक्ष्म और स्थूल प्रयत्नों द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करनी होगी। इसीलिये ईश्वरने हमलोगोंके पाश्चात्य-भाव-युक्त आन्दोलनको ध्वंस करके हमारी बहिर्मुखी शक्तिको अन्तर्मुखी कर दिया है। ब्रह्म-बान्धव उपाध्यायने दिव्य चक्षुसे जो कुछ देखा था, उसे बारबार उन्होंने कहा कि, शक्तिको अन्तर्मुखी करो, किन्तु समयके फेरसे उस समय कोई वैसा कर न सका—यहाँ तक कि स्वयं वे भी वैसा न कर सके। पर आज समय अनुकूल होते ही ईश्वर ने उसे ठीक कर दिया। भारतकी शक्ति अन्तर्मुखी हो गयी है। जिस समय वह शक्ति फिर बहिर्मुखी होगी, उस समय फिर वही स्रोत नहीं फिरेगा और न कोई उसे रोकही सकेगा; फिर वही त्रिलोक-पावनी गंगा भारतको प्लावित यानी जल-मग्न करके पृथ्वीको प्लावित करके अपने अमृत-स्पर्शसे जगत्‌में नया युग स्थापित करेंगी।

प्राच्य और पाश्चात्य
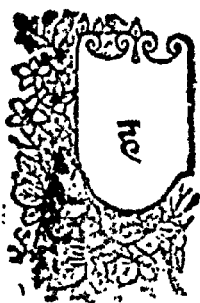
हमारे देशमें और यूरोपमें मुख्य अन्तर यही है कि, हमारा जीवन अन्तर्मुखी है और यूरोपका जीवन वहिर्मुखी। हमलोग भावका आश्रय लेकर पापपुण्य इत्यादिका विचार करते हैं, और यूरोपनिवासी कर्मका आश्रय लेकर पापपुण्य इत्यादिका विचार करते हैं। हमलोग ईश्वरको अन्तर्यामी और आत्मीस्थ जानकर भीतर उनकी खोज करते हैं, यूरोप ईश्वरको जगत्का राजा समझकर वाहर उनको देखता और उपासना करता है। यूरोपका स्वर्ग स्थूल-जगत्में है। पृथ्वीका ऐश्वर्य, सौन्दर्य, भोग, विलास ही आदरणीय और अन्वेषणीय है; यदि दूसरे स्वर्गकी कल्पना करें, तो यह पार्थिव ऐश्वर्य, सौन्दर्य और भोग-विलासका स्वरूप ही उसका ईश्वर है जो कि हमलोगोंके इन्द्रके समान है। पार्थिक राजाकी तरह रत्नमय सिंहासनपर बैठकर हज़ारों वन्दनाकारियोंद्वारा स्तवस्तुतिसे वर्द्धित होकर विश्व साम्राज्य चला रहा है। हमलोगोंके शिव परमेश्वर एवं भिक्षुक, पागल और भोलानाथ हैं; हमलोगोंके कृष्ण बालक, हास्यप्रिय, रँगीले प्रेममय हैं और उनका क्रीड़ा करना धर्म हैं। यूरोपनिवासियोंके भगवान कभी हँसते नहीं और न कभी क्रीड़ा ही करते हैं। क्योंकि

इससे उनका गौरव नष्ट होता है, उनका ईश्वरत्व नहीं रह जाता। इसका कारण वही बहिर्मुखी भाव है। ऐश्वर्यका चिह्न ही उनके ऐश्वर्यकी स्थापना है, इन चिह्नोंके बिना देखे वे विश्वास नहीं करते। उनकी न तो दिव्य दृष्टि है और न सूक्ष्म दृष्टि ही; उनका सब कुछ स्थूल है। हमलोगोंके शिव हैं तो भिक्षुक, पर तीनों लोकका सारा धन और ऐश्वर्य भक्तोंको दान करते हैं; भोलानाथ, किन्तु ज्ञानियोंका अप्राप्य ज्ञान उनकी स्वभावसिद्ध सम्पत्ति है। हमलोगोंके प्रेममय रँगीले श्याम कुरुक्षेत्रके नायक, जगत्के रक्षक तथा अखिल ब्रह्माण्डके सखा और सुहृद हैं। भारतका विराट् ज्ञान; तीक्ष्ण सूक्ष्म-दृष्टि, अबाध दिव्य-दृष्टि, स्थूल आवरणको वेधकर आत्मस्थ भाव, वास्तविक सत्य और अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वको बाहर लाती है।

*　　*　　*　　*

पापपुण्यके सम्बन्धमें भी यही क्रम दिखाई पड़ता है। हमलोग भीतरी भाव देखते हैं। निन्दित कर्मोंमें पवित्र भाव और बाह्यिक पुण्योंमें पापियोंका स्वार्थ छिपा रह सकता है; पाप-पुण्य और सुख-दुःख मनका धर्म है, कर्म तो आवरण मात्र है। हमलोग यह जानते हैं। सामाजिक बंधनोंके लिये हमलोग बाह्यिक पाप-पुण्यको कर्मका प्रमाण समझकर मानते हैं; किन्तु हमलोगोंका आदरणीय आन्तरिक भाव ही है। जो संन्यासी आचार-विचार; कर्त्तव्या-कर्त्तव्य और पाप-पुण्यसे न्यारे रहते हैं तथा मदोन्मत्त पिशाचवत् आचरण करते हैं उन्हीं सर्वधर्म-

त्यागी पुरुषोंको हमलोग श्रेष्ठ कहते हैं पर पाश्चात्य बुद्धिवाले इन तत्वोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। वे जो जड़वत् आचरण करता है, उसको जड़, उन्मत्तवत् आचरण करता है उसको पागल और जो पिशाचवत् आचरण करता है उसको घृणा करनेके योग्य अनाचारी पिशाच समझते हैं। क्यों? इसलिये कि उनकी दृष्टि सूक्ष्मदृष्टि नहीं है, वे आन्तरिक भावोंके देखनेमें असमर्थ हैं।

* * * *

इसी तरह बाह्यदृष्टिके वशीभूत होकर यूरोपीय पण्डित कहते हैं कि, भारतमें प्रजातंत्र किसी भी युगमें नहीं था। प्रजातंत्र सूचक कोई भी बात संस्कृत भाषामें नहीं पायी जाती। आधुनिक पार्लमेंटकी तरह कोई कानून व्यवस्थापक सभा भी नहीं थी, प्रजातंत्रके बाहरी चिह्नोंके अभावमें प्रजातंत्रका अभाव ही अवगत होता है। हमलोग भी इस पाश्चात्य युक्तिको ठीक कहकर ग्रहण करते आ रहे हैं।

हमलोगोंके प्राचीन आर्य राज्योंमें प्रजातंत्रका अभाव नहीं था। प्रजातंत्रकी बाहरी सामग्री असम्पूर्ण थी, अवश्य किन्तु प्रजातंत्रताका भाव हमलोगोंके सारे समाज और शासन-प्रणालियोंके भीतर व्याप्त था। यहाँ प्रजाके सुख और देशकी उन्नति की रक्षाकी जाती थी। पहले हरएक गाँवमें सम्पूर्ण प्रजातंत्र था, गाँवके लोग सम्मिलित होकर सर्वसाधारणकी रायसे वृद्ध और योग्य पुरुषोंके अधीन गाँवकी व्यवस्था और समाजकी व्यवस्था

करते थे। यह ग्राम्य प्रजातंत्र प्रणाली मुसलमानोंके शासनकालमें अक्षुण्ण थी, पर वृटिश शासन प्रणालीके स्थापित होते ही नष्ट हो गयी। दूसरे, प्रत्येक छोटेसे छोटे राज्यमें भी सर्व-साधारणको सम्मिलित करनेकी सुविधा थी। बौद्ध साहित्य, ग्रीक इतिहास तथा महाभारतमें इसका यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है कि ऐसी प्रथा विद्यमान थी। तीसरे, बड़े-बड़े राज्योंमें जहाँ इस तरहकी बाहरी सामग्रीका रहना असम्भव था, प्रजा-तंत्रकी भाँति राजतंत्रको परिचालित किया जाता था। प्रजाकी कानून व्यवस्थापक सभा नहीं थी, किन्तु राजाको भी कानून बनाने या प्रचलित कानूनका परिवर्त्तन करनेका तनिक भी अधिकार नहीं था। प्रजा जिस आचार-व्यवहार, रीति-नीतिको कानून मानती आती थी, उसकी रक्षा करनेवाला राजा होता था। ब्राह्मण लोग आधुनिक वकीलों और जजोंकी तरह प्रजा-द्वारा अनुष्ठित उन्हीं सारे नियमोंको राजाको समझाते, जहाँ संशय होता वहाँ क्रमशः आवश्यकतानुसार नियमोंका परिवर्त्तन करते एवं उसे लिखित शास्त्रोंमें लिपिबद्ध करते थे। शासनका भार राजापर ही रहता था; किन्तु वह योग्यताके साथ अपनेको कानूनकी कठिन शृंखलामें आबद्ध समझता था। प्रजाद्वारा अनुमोदित कार्य ही राजा करता था, न कि उससे भिन्न। जिस कार्यसे प्रजाके असन्तुष्ट होनेकी सम्भावना रहती थी, उसे राजा कभी भी नहीं करता था। इसी राजनीतिक नियमका सबलोग पालन करते थे। यदि राजा प्रजाद्वारा अनुमोदित

नियमोंका उल्लंघन करता था, तो प्रजा उस राजाको राजा माननेके लिये वाध्य नहीं होती थी अर्थात् उसे त्याग देती थी।

* * * *

प्राच्य और पाश्चात्यका एकीकरण इस युगका धर्म है। किन्तु इस एकीकरणमें यदि हम लोग पाश्चात्यको गौरव या मुख्य अङ्ग मानें, तो हमलोग विषम भ्रममें पड़ेंगे। प्राच्यहीको इसका गौरव है और प्राच्य ही इसका मुख्य अङ्ग है। क्योंकि बहिर्जगत अन्तर्जगत गौरवान्वित है न कि अन्तर्जगत बहिर्जगतमें। भाव और श्रद्धा, शक्ति और कर्मका उत्पन्न किया हुआ है। भाव और श्रद्धाकी रक्षा की जाती है, पर शक्तिप्रयोगमें और कर्मके वाह्यिक आकार तथा उपकरणमें आसक्त होनेपर नहीं। पाश्चात्य निवासी प्रजातन्त्रके वाह्यिक आकार और उपकरणको लेकर तन्मय हैं। भावको परिस्फुट करनेके लिये वाह्यिक आकार और सामग्री है। भाव आकारको गठन करते हैं और श्रद्धा उपकरणका सृजन करती है। किन्तु पाश्चात्य निवासी आकार और उपकरणमें इस प्रकार व्यग्र हैं कि उसी बाहरी प्रकाशमें उनका भाव और श्रद्धा नष्ट होती जा रही है, जिसका लक्ष्य भी वे नहीं कर पा रहे हैं।

आजकल प्राच्य देशमें प्रजातन्त्रका भाव और श्रद्धा प्रबल वेगमें परिस्फुट होकर बाहरी सामग्री उत्पन्न कर रही है, बाहरी आकार भी बढ़ा रही है, किन्तु पाश्चात्य देशमें वही भाव और

श्रद्धा क्षीण होती जा रही है। प्राच्य प्रभातोन्मुख है और प्रकाशकी ओर भाग रहा है तथा पाश्चात्य अन्धकारगामी है और रात्रिकी ओर जा रहा है।

* * * *

इसका कारण, उसी बाह्य आकार और सामग्रीमें आसक्तिके फलसे प्रजातन्त्रका दुष्परिणाम है। प्रजातन्त्रकी पूर्ण अनुकूल शासनप्रणाली स्थापित करके अमेरिका इतने दिनोंतक यह अभिमान करता था कि, अमेरिकाके समान स्वाधीन देश संसारमें दूसरा कोई नहीं है; किन्तु वास्तवमें प्रेसिडेण्ट और कर्मचारी मण्डल कांग्रेसकी सहायतासे स्वेच्छानुसार शासन करते हैं; धनीपात्रोंके अन्याय, अविचार और सर्वग्रासी लोभको आश्रय देते तथा अपनी योग्यताका दुर्व्यवहार करके स्वयं भी धनी बनते हैं। एक मात्र प्रतिनिधि निर्वाचनके लिये प्रजा स्वाधीन है—सो उस समय भी धनवान अधिक धन व्यय करके अपनी योग्यता अक्षुण्ण रखते हुए भी प्रजाद्वारा चुने हुए प्रतिनिधिको खरीद करके अपनी इच्छाके अनुसार धन शोषण करते और आधिपत्य जमाये रहते हैं। फ्रान्स स्वाधीनता और प्रजातन्त्रकी जन्मभूमि है, किन्तु वहाँका कर्मचारी-वर्ग और पुलिस-विभाग प्रजाकी इच्छासे प्रत्येक शासन-कार्यके चलानेके लिये मन्त्र स्वरूप समझकर नियुक्त किया गया था। उसका अधिकांश भाग इस समय स्वेच्छाचारी होकर चैनकी बाँसुरी बजा रहा है और प्रजा उसके भयसे कातर हो रही है।

इङ्गलैण्डमें ऐसी विडम्बना नहीं है अवश्य; किन्तु प्रजातन्त्रके अन्यान्य दुःख वहाँ भी व्यक्त हो रहे हैं। चञ्चलमति अर्द्धशिक्षित प्रजाके मत परिवर्त्तनसे शासनकार्य और राजनीति डाँवाडोल होती देखकर बृटिशजाति पुरानी राजनीतिक कुशलता छोड़कर बाहर और भीतर दोनोंमें विपद्ग्रस्त हो रही है। शासन करनेवाले कर्त्तव्यज्ञानसे रहित हैं वे अपने स्वार्थ और मिथ्या गौरवकी रक्षा करनेके लिये निर्वाचकोंको प्रलोभन और भय दिखाकर तथा भूल समझाकर बृटिश जातिकी बुद्धि विकृत कर रहे हैं। विकृत ही नहीं वरन् उसकी बुद्धिकी अस्थिरता और चाञ्चल्य भी बढ़ा रहे हैं। इन्हीं सब कारणोंसे एक ओर तो प्रजातन्त्रवादको भ्रान्त कहकर एक दल स्वाधीनताके विरुद्ध हाथमें तलवार लेकर खड़ा हो रहा है और दूसरी ओर अनार्किष्ट, सोशलिष्ट आदि विप्लवकारियोंकी संख्या बढ़ रही है। इन दोनों दलोंका संघर्ष इङ्गलैण्डके राजनीतिक क्षेत्रमें चल रहा है। अमेरिकामें श्रमजीवियों और पूँजीपतियोंके विरोधसे, जर्मनीमें मत संगठनसे, फ्रांसमें सैन्य और नौसैन्यसे तथा रूसमें पुलिस और हत्याकारियोंके संग्रामसे सब जगह गोलमाल, चञ्चलता और अशान्ति विराज रही है।

बहिर्मुखी दृष्टिका यह परिणाम अवश्यम्भावी है। कुछ दिनोंतक राजसिक तेजसे तेजस्वी होकर राक्षस महान, श्रीसम्पन्न और अजेय हो जाते हैं; किन्तु शीघ्र ही उनका अन्तर्निहित दोष प्रकट हो जाता है और सब छिन्न-भिन्न होकर

चूरमार हो जाता है। भाव और श्रद्धा, सद्ज्ञान कर्म तथा अनासक्त कर्म जिस देशमें शिक्षाका मूलमन्त्र होता है, उसी देशमें भीतर और बाहर प्राच्य और पाश्चात्यके एकीकरणमें समाज, अर्थनीति और राजनीतिकी सारी समस्याओंकी सन्तोषजनक मीमांसा वस्तुतः हो सकती है। किन्तु पाश्चात्य ज्ञान और शिक्षाका वशवर्त्ती होकर वह मीमांसा नहीं की जा सकती। प्राच्यके ऊपर दण्डायमान होकर पाश्चात्यको अपने आधीन करना होगा। भीतरकी स्थापना ही बाहरी प्रकाश है। भावोंकी पाश्चात्य सामग्रियोंका अवलम्बन करनेसे विपद्ग्रस्त होना पड़ेगा। अपने स्वभावानुसार तथा प्राच्य बुद्धिके उपयुक्त सामग्रीका उत्पन्न करना श्रेयस्कर होगा।

भ्रातृत्व

आधुनिक सभ्यताके जो तीन आदर्श या चरम उद्देश्य फरासी राष्ट्रविप्लवके समयमें प्रचारित हुए थे, वे हमारी भाषामें साधारणतः स्वाधीनता, साम्य और मैत्रीके नामसे परिचित हैं। किंतु पाश्चात्य भाषामें जिसे Fraternity (भ्रातृत्व) कहते हैं, वह मैत्री नहीं। मैत्री तो मनका भाव है। जो सबलोगोंके हितकी इच्छा रखता है, किसी का भी अनिष्ट नहीं करता, उसी दयावान, अहिंसा-परायण, सब प्राणियोंके लिये लीन रहनेवाले मनुष्यको "मित्र" कहते हैं; मैत्री उसके मनका भाव है। इस तरह स्पष्ट है कि, भाव व्यक्तिकी मानसिक सम्पत्ति है,—वह व्यक्तिके जीवन और कर्मको नियंत्रित कर सकता है, इस भावका राजनीतिक या सामाजिक शृंखलाके मुख्य बंधनमें रहना असम्भव है। फरासी राष्ट्रविप्लवके तीनों तत्व व्यक्तिगत जीवनके नैतिक नियम नहीं हैं वरन् वे समाज और देशकी व्यवस्थाके नवीन संगठनोपयोगी तीनों सूत्र, समाज और देशकी बाहरी अवस्थितिसे प्रकाशोन्मुख प्राकृतिक मूलतत्व Fraternity या भ्रातृत्व हैं।

फरासी विप्लवकारी राजनीतक और सामाजिक स्वाधीनता तथा समताकी प्राप्तिके लिये उत्सुक थे, किन्तु भ्रातृत्वपर उनका दृढ़ लक्ष्य नहीं था। भ्रातृत्वका अभाव ही फारसी राष्ट्रविप्लव-

की असम्पूर्णताका कारण है यदि इन विप्लवकारियोंमें भ्रातृत्व-का भाव भी होता तो निश्चय ही उनका विप्लव सम्पूर्ण होता। इस अपूर्व उत्थानसे ही यूरोपमें राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता स्थापित हुई है, तथा राजनीतिक साम्य भी कई अंशोंमें कितने ही देशोंमें शासन-प्रणाली और कानून-पद्धतिपर अधिकार पा चुका है। किन्तु भ्रातृत्वका भाव उत्पन्न हुए बिना सामाजिक एकताका होना असम्भव है; भ्रातृत्वके अभावसे ही यूरोप सामाजिक समतासे वंचित है। इन तीनों मूल तत्त्वोंका पूर्ण विकाश परस्परके विकाशके ऊपर निर्भर करता है। समतासे ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। साम्य भावके न रहनेसे स्वाधीनता कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। यह साम्य भाव भ्रातृत्वसे उत्पन्न होता है। बिना भ्रातृत्वका भाव उदय हुए साम्यभाव उत्पन्न नहीं होता। भ्रातृभाव यानी सबको भाईके समान समझना ही भ्रातृत्व है। यूरोपमें भ्रातृभाव नहीं है; वहाँका साम्य और स्वाधीनता दोनों ही दूषित, निर्मूल और अधूरी है। इसीसे यूरोपमें गोल-माल और क्रान्ति हमेशा ही हुआ करती है। इस गोलमाल और क्रान्तिको यूरोपवाले साभिमान उन्नति (Progress) कहते हैं।

यूरोपमें जो कुछ भी भ्रातृभाव है, वह देशके कारण है; क्योंकि वहाँ एक देशके लोग हैं, वहाँके सबलोगोंका हिताहित एक है और एकतामें बिना विघ्न बाधाके स्वाधीनता रहती है, बस यही ज्ञान यूरोपकी एकताका कारण है। इसके विरुद्ध और एक ज्ञान उत्पन्न हुआ है, और वह यह कि, हम सबलोग

मनुष्य हैं; मनुष्य मात्रका एक हो जाना ही उचित है, मनुष्यों-में भेद समझना मूर्खता और नाश करने वाला है, इस भेदका कारण जातीयता है। यह जातीयता अज्ञानताके कारण पैदा हुई है और महान् अनिष्ट करनेवाली है। इसलिये जातीयताको हटाकर मनुष्य जातिकी एकता स्थापित करनी चाहिये, विशेषत: जिस फ्रांस में स्वाधीनता, साम्य और भ्रातृत्व रूप महान आदर्श पहले पहल प्रचारित हुआ है, उसी भावप्रवण देशमें इन दोनों परस्पर विरोधी ज्ञानों का संघर्ष चल रहा है, किन्तु स्वभावत: ये दोनों ज्ञान और भाव परस्पर विरोधी नहीं हैं। जातीयता भी सत्य है और मानवजातिकी एकता भी सत्य है। इन दोनों सत्योंके सामञ्जस्यमें ही मानवजातिका कल्याण है। यदि हमारी बुद्धि इन दोनोंके सामञ्जस्यमें असमर्थ हो, अविरोधी तत्वोंके विरोधमें आसक्त हो, तो उसे भ्रान्त राजसिक बुद्धि कहना होगा।

इस समय यूरोप साम्यसे शून्य राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनतापर लालायित होकर सोशलिज्मकी ओर दौड़ रहा है। वहाँ पर दो दल हो गये हैं, एक अनार्किष्ट और दूसरा सोशलिष्ट। अनार्किष्ट दलवालोंका कहना है कि, यह राजनीतिक स्वाधीनता माया है। गवर्नमेण्टके नामसे बड़े लोगोंके अत्याचारोंका शासन स्थापित करके राजनीतिक स्वाधीनताकी रक्षाका भार अपने ऊपर ले व्यक्तिगत स्वाधीनताका नाश करना इस मायाका लक्षण है इसलिये सब तरहकी गवर्नमेण्ट

(जिसके द्वारा शासन किया जाय उसे गवर्नमेण्ट कहते हैं) को उठा देना चाहिये और वास्तविक स्वाधीनता स्थापित करनी चाहिये। गवर्नमेण्टके न रहनेपर स्वाधीनता और साम्यकी रक्षा कौन करेगा? बलवानोंके अत्याचारोंका निवारण कौन करेगा, इन प्रश्नोंके उत्तरमें अनार्किष्ट दलवाले कहते हैं कि, शिक्षा-प्रचारसे ज्ञान और भ्रातृ-भावका प्रचार करना चाहिये, यह ज्ञान और भ्रातृ-भावही स्वाधीनता और साम्यकी रक्षा करेगा। यदि कोई मनुष्य भ्रातृ-भावका उल्लंघन करके अत्याचार करे, तो उसे कोई भी मनुष्य जानसे मार डाले सोशलिष्ट दलवाले यह बात नहीं कहते। उनका कहना है कि गवर्नमेण्ट रहे, क्योंकि गवर्नमेण्टकी आवश्यकता है; किन्तु समाज और शासनप्रणाली एकदम साम्यपर स्थापित हो जाय। इस समय जो समाज और शासन प्रणालीके दोष हैं उनका सुधार हो जानेसे मानव जाति-पूर्ण सुखी, स्वाधीन और भ्रातृ-भावापन्न हो जायगी। इसीलिये सोशलिष्ट दलवाले समाजको एक करना चाहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहकर यदि वह समाजकी सम्पत्ति हो जायगी, तो उससे एकान्नवर्त्ती परिवारकी सम्पत्ति किसी व्यक्ति विशेषकी सम्पति नहीं वरन् परिवारकी होगी; उस अवस्थामें परिवार ही शरीर होगा और व्यक्ति उस परिवार रूपी शरीरका अंग होगा। ऐसा होनेसे समाजमें भेद नहीं रहेगा और समाज एक हो जायगा।

भ्रातृ-भाव स्थापित होने के पहले ही गवर्नमेण्टके नाशकी

चेष्टा करना, अनार्किष्ट दलवालोंकी भूल है। पूर्ण रूपसे भ्रातृ-भाव स्थापित होनेमें अभी बहुत देर है; इसके पहले ही शासन-प्रणाली उठा देनेका अवश्यम्भावी फल यह होगा कि घोर अराजकता फैल जायगी और उस घोर अराजकतासे पशुभावका आधिपत्य स्थापित होगा। राजा समाजका केन्द्र है। शासन-तंत्रके स्थापनसे मनुष्य पशुभावसे बचता है। जिस समय संपूर्ण भ्रातृ-भाव स्थापित हो जायगा, उस समय भगवान कोई भी पार्थिव नियुक्त न करके स्वयं ही पृथ्वीपर आ विराजेंगे और प्राणीमात्रके हृदय-सिंहासनपर आरूढ़ हो राज्य करेंगे। उस समय क्रस्तानोंके लिये Beigu of the Saints साधुओंका राज्य और हमलोगोंके लिये सत्ययुग स्थापित हो जायगा। अभी मानव-समाज इतनी उन्नति नहीं कर पाया है कि यह अवस्था शीघ्र उपस्थित होनेकी आशा की जाय। अभी तो उस अवस्थाकी आंशिक ही सम्भव है।*

भ्रातृत्वके ऊपर साम्यकी स्थापना न करके साम्यके ऊपर भ्रातृत्वकी स्थापना करनेकी चेष्टा करना, सोशलिष्टोंकी भी भूल है। साम्यहीन भ्रातृत्वका होना तो सम्भव है, किन्तु भ्रातृत्व-हीन होनेसे साम्यका टिकना बिलकुल ही असंभव है। क्योंकि

---

* आधुनिक समयके लिये इस निबंधसे बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। स्वराज्य क्या वस्तु है, मानव समाजका राजनीतिक विकाश किस प्रकार होता है आदि बातें इसमें बिलकुल स्पष्ट हैं। पर बिना ध्यान पूर्वक पढ़े कुछ भी समझमें नहीं आ सकता।

वह मतभेद, झगड़ा और आधिपत्यकी प्रबल अभिलाषाओंसे निश्चय ही नष्ट हो जाया करता है, और उसका नष्ट हो जाना अनिवार्य भी है। इसलिये पहले संपूर्ण भ्रातृत्व और पीछे संपूर्ण साम्य होना चाहिये।

भ्रातृत्व बाहरकी अवस्था है। भ्रातृ-भावसे रहना, सबको एक सम्पत्तिका होना, सबका एक हित और एक चेष्टाका होना ही भ्रातृत्व है। बाहरी अवस्था अंतरंग भावोंपर अवलंबित रहती है। भ्रातृप्रेमसे भ्रातृत्व सजीव और सत्य होता है। इसलिये उस भ्रातृप्रेमका होना आवश्यक है। हम सबलोग एक माताकी सन्तान और देशभाई हैं, एक तरहसे यही भाव भ्रातृप्रेमकी स्थापना है। किन्तु यह भाव राजनीतिका एकताका बन्धन होता है, इसलिये इससे भी सामाजिक एकता नहीं होती। और भी नीचेकी तहमें पहुँचना चाहिये। जिस प्रकार हम अपनी माका अतिक्रम करके समूचे देशके भाइयोंकी माकी उपासना करते हैं, उसी तरह देशका अतिक्रम करके जगज्जननीको प्राप्त करना चाहिये। खण्ड शक्तिका क्रमोल्लंघन करके सम्पूर्ण शक्तिसे पहुँ-चना चाहिये। किन्तु जिस प्रकार भारतजननीकी उपासनामें शारीरिक सम्बन्धवाली माका अतिक्रम करते हुए भी उसे भूला नहीं जाता, उसी प्रकार जगज्जननीकी उपासनामें भी भारतजननीका अतिक्रम करते हुए उसे भी विस्मृत नहीं होना चाहिये। क्योंकि वे भी काली, वे भी मा हैं।

धर्म ही भ्रातृ-भावकी स्थापना है। समस्त धर्म यही बात

कहते हैं कि हमलोग एक हैं, भेद अज्ञानसे द्वेषसे और पापसे उत्पन्न हैं। प्रेमही समस्त धर्मोंकी प्रधान शिक्षा है। हमारा धर्म भी यही कहता है कि, हम सबलोग एक हैं, भेद बुद्धि तो अज्ञान का लक्षण है; ज्ञानी लोग सबको समान दृष्टिसे देखते, सबमें एक आत्मा, समभावसे स्थित एक नारायणका दर्शन करते हैं। इसी भक्तिपूर्ण समतासे विश्वप्रेम उत्पन्न होता है। किन्तु यह ज्ञान मानवजातिका परम गन्तव्य स्थान, हमारी आखिरी अवस्थामें सर्वव्यापी होगा; सारांश यह कि भीतर, बाहर परिवार, समाज देश और सर्व प्राणियोंमें उसकी आंशिक प्राप्ति होनी चाहिये। यह मानवजाति परिवार, कुल, देश तथा सम्प्रदाय प्रभृतिको उत्पन्न कर शास्त्र या नियमोंके बन्धनमें पुष्ट करके इस भ्रातृत्वका स्थायी आधार बनानेके लिये बहुत दिनोंसे प्रयत्नकर रही है। पर अभी तक उसकी यह चेष्टा विफल होती आरही है। स्थापना और आधार तो है, किन्तु भ्रातृत्वकी रक्षाके लिये कौनसी अक्षय शक्ति चाहिये जिससे वह स्थापना नष्ट न हो सके और वह आधार चिरस्थायी या नित्य नवीन हो सकता है? परमात्माने अभीतक उस शक्तिको प्रकट नहीं किया। हाँ राम, कृष्ण, चैतन्य, रामकृष्ण रूपमें अवतीर्ण होकर मनुष्योंके कठोर स्वार्थ पूर्ण हृदयोंमें प्रेमका उपयुक्त पात्र होनेके लिये तैयार अवश्य कर रहे हैं। वह दिन कब आवेगा जब भगवान फिर अवतार लेकर मनुष्योंके हृदयोंमें फिर प्रेमानन्दका संचार और स्थापन करके इस पृथ्वीको स्वर्ग भूमि बनावेंगे?

हमारी यही भारतमाता ज्ञान, धर्म, साहित्य और शिल्पकी खान थी। इसे पाश्चात्य और प्राच्य सारी जातियाँ स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं; किन्तु आजसे कुछ दिन पहले यूरोप की यह धारणा थी कि हमलोगोंका साहित्य और शिल्प जैसा उच्चकोटिका था, भारतीय चित्रविद्या वैसी उत्कृष्ट नहीं थी, वरं वह अत्यन्त सौंदर्यहीन थी। हमलोग भी पश्चिमी ज्ञान प्राप्तकर आँखोंपर यूरोपीय चित्र और स्थापत्य देखनेसे नाक सिकोड़कर अपनी पवित्र बुद्धि और निर्दोष इच्छाका परिचय दिया करते थे। हमारे देशके धनीमानों-की बैठकें ग्रीक प्रतिमाओं और अँगरेजी चित्रोंके फटे पुराने निर्जीव अनुकरणसे भर गयी थीं। साधारण लोगोंके घरोंकी दीवारें भी बहुतसे तैल चित्रोंसे सुशोभित होने लगी थीं। इस प्रकार जिस भारतजातिकी रुचि और शिल्प चातुरी संसारमें अद्वितीय थी, रङ्ग और रूपके ग्रहण करने में जिसकी रुचि स्वभावतः निर्मूल थी, उसी जातिकी आँखें अन्धी, बुद्धि भाव ग्रहण करनेमें असमर्थ और रुचि भ्रष्ट, कुली मजूरोंकी रुचिसे भी अधम हो गयी।

राजा रविवर्मा भारतके श्रेष्ठ चित्रकारोंके नामसे विख्यात हुए। इस समय बहुतसे रसज्ञ-जनोंके उद्योगसे भारतवासियोंकी आँखें खुलीं, लोग अपनी क्षमता और अपने ऐश्वर्यको फिर समझने लगे। श्रीयुक्त अवनीन्द्रनाथ ठाकुरकी असाधारण प्रतिभाकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर कितने ही युवक लोग अब लुप्त भारतीय

चित्रविद्याका पुनरुद्धार करनेमें लग गये हैं। इनकी प्रतिभाके प्रभावसे देशमें नये युगके आगमनकी सूचना मिल रही है। इसके सिवा आशा की जाती है कि अब भारत अंग्रेजोंकी आँखोंसे न देखकर अपनी आँखोंसे देखेगा और पाश्चात्योंका अनुकरण करना छोड़कर अपनी प्राञ्जल बुद्धिके सहारेसे फिर चित्रित रूप और रङ्गमें भारतका सनातन भाव व्यक्त करेगा।

भारतीय चित्रविद्यापर पाश्चात्योंकी वितृष्णा होनेके दो कारण हैं। वे लोग कहते हैं कि भारतीय चित्रकार Nature (स्वभाव) का अनुकरण करनेमें असमर्थ हैं, ठीक मनुष्यके समान मनुष्य घोड़ेके समान घोड़ा और पेड़के समान पेड़ चित्रित न करके उनका टेढ़ा रूप चित्रित करते हैं। उनमें Perspective* नहीं है। भारतीयचित्र चिपटे और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि भारतीयचित्रोंमें सुन्दर भाव और सुन्दर रूपका बिलकुल ही अभाव है। इनके सिवा और कोई भी आपत्ति यूरोपियनोंके मुखसे सुननेमें नहीं आता। हमारी पुरानी बुद्ध मूर्त्तियोंका शान्तभाव तुलना रहित है, हमारी पुरानी दुर्गादेवीकी मूर्त्तियोंमें अपार्थिव शक्तिका प्रकाश देखकर यूरोपियन प्रमुदित और स्तंभित होते हैं। विलायतके सुविख्यात श्रेष्ठ समालोचकोंने भी स्वीकार किया है कि भारतीय चित्रकार यूरोपका Perspective नहीं जानते। भारत के Perspective का नियम अत्यन्त सुन्दर, सम्पूर्ण और संगत है। भारतीय चित्रकार और अन्यान्य शिल्पी बाहरी जगत्

* Prespective view and sectional view.

या स्थूल जगत्‌का अनुकरण नहीं करते यह बात बिलकुल ठीक है किन्तु सामर्थ्यके अभावके कारण नहीं, वरन् उनका उद्देश्य ही बाह्य दृश्य और प्राकृतिका अतिक्रम करके भीतरी भाव सत्य को प्रकट करना रहता है। बाहरी आकर ही इस आन्तरिक सत्य-का ढकना या कपाटरूप है। उसी कपाट रूपके सौंदर्यमें निमग्न होकर हम जो कुछ भीतर छिपाये रहते हैं, वह ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये भारतीय चित्रकारोंने इसी अभिप्रायसे बाहरी आकारमें ही भीतरी भावोंको व्यक्त करना उपयोगी माना है। भारतीय चित्रकार कितने सुन्दर ढङ्गसे प्रत्येक अंग एवं चारों ओरके दृश्य, आसन, वेष, और मानसिक भाव अपनी चित्रकारीमें दिखाते हैं, उसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। यही भारतीय चित्रों का प्रधान गुण और चरम उत्कर्ष है। पाश्चात्य चित्रविद्या बाहरके मिथ्या अनुभवोंको लेकर व्यस्त है, वह छायापर भक्ति करती है, उसे ऊपरी सौन्दर्य ही पसन्द है भीतरी भावोंसे कोई काम नहीं। किन्तु भारतीय चित्रविद्या भीतरकी वास्तविकताकी खोज करती है वह नित्यपर भक्ति करती है। पाश्चात्य निवासी शरीरके उपासक हैं और हमलोग आत्माके। वे लोग नाम और रूपमें अनुरक्त हैं और हमलोग नित्य वस्तु पाये बिना किसी चीजसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। यह भेद जिस तरह धर्म-दर्शन, साहित्य आदिमें है, उसी तरह चित्रविद्या और स्थापत्य-विद्यामें भी पाया जाता है।

* इति *

हमारी पुस्तकों का सूचीपत्र

स्त्रियों के लिए अनूठा उपन्यास

मिलन-मन्दिर

"मिलन-मन्दिर" सचित्र सामाजिक उपन्यास है। इस में यह दिखलाया गया है कि भारत की देवियाँ संकटावस्था में किस प्रकार नीचों के चंगुल से छूटकर अपने सतीत्व की रक्षा करती हैं, मोहान्ध युवक किस प्रकार क्षणिक सुख के लिए नाना प्रकार के कष्ट झेलते और चिन्तित रहते हैं, पारस्परिक डाह के कारण कैसे गृहस्थी चौपट हो जाती है और मेल से जीवन सुखमय होता है, गरीबी अमीरी का किस प्रकार फेरा लगा करता है तथा जिस सन्तान पर लोग इतनी ममता करते हैं—जिसके लिए घर वालों के साथ अन्याय करते हैं, वही सन्तान क्षण भर में किस प्रकार नाता तोड़कर चल देता है। इसके अतिरिक्त ससुराल का मानापमान, अपनी नासमझी पर पश्चाताप, भाग्य-चक्र, तथा ढोंगियों का चित्र इस पुस्तक में बड़ी ही कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। गृहस्थी के प्रत्येक स्त्री पुरुष को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। रंगीन तथा सादे पाँच चित्रों-सहित मोटे कागज पर छपी ४०० पृष्ठों की इस पुस्तक का दाम केवल २॥) है। हिन्दी में ऐसे उपन्यास अभी बहुत कम निकले हैं।

अध्यात्म-दर्शन-तत्वज्ञान

आत्मदर्शन १।)
ओंकार उपासना ।)
आसन २)
स्वास्थ्य और योगासन १)
ईश्वरीय बोध ॥।)
गीताकी भूमिका १)
गीता रहस्य (म० तिलक) ४।)
दर्शन परिचय २।)
दासबोध २)
पुनर्जन्म २)
प्राणायाम तत्व ॥।)
योग दर्शन १।)
वैशेषिक दर्शन १॥)
न्याय दर्शन १॥)
धर्मशिक्षा १)
वर्णव्यवस्था ॥=)
भक्ति ।≈)
भक्तियोग १॥)
हठयोग १॥)
राम की उपासना ।)
राम बादशाह के छः हुक्मनामे १।)
विवेक वचनावली ।)
विश्वप्रपंच २॥)
संध्यायोग ।~)
संध्या रहस्य ।≈)
ज्ञानयोग ५)
सूर्य व्यायाम ॥)
सांख्यदर्शन १)
वैज्ञानिकी १॥=)
विसत्र १)
निरुक्त ४।)
पारस्कर गृह्यसूत्र १॥)
धर्म और जातीयता १)
भक्ति-रहस्य ॥)
भक्ति और वेदान्त ॥।=)

इतिहास

महाभारत ३)
अशोक की धर्म लिपियाँ ॥)
अशोक के धर्म लेख २॥)
अंग्रेज़ जाति का इतिहास २।)
अफलातून की सामाजिक व्यवस्था १।≈)
जापान की राजनीतिक प्रगति ३॥=)

इटली की स्वाधीनता	॥)	इङ्गलैण्ड का इतिहास	३।)
चीन का इतिहास	१=)	तिब्बत में तीन वर्ष	५॥)
[illegible]न का भीषण हत्याकाण्ड	१।)	चेतसिंह और काशी का विद्रोह	।=)
[illegible] मुद्रा	३)	तरुण भारत (लालाजी)	१)
बद्रीनाथ की यात्रा विवरण	२॥)	प्राचीन भारत	३॥-)
बौद्धकालीन भारत	२।)	पश्चिमीय योरप	२॥)
भूप्रदक्षिणा	५)	फ्रांस की राज्यक्रान्ति	१)
भारतवर्ष का इतिहास	२॥।)	मराठों का उत्कर्ष	१॥)
भारत के प्राचीन राजवंश	६॥)	पृथ्वी प्रदक्षिणा	१५)
भारत की प्राचीन झलक	२)	भारत के देशीराज्य	३५)
[illegible] का झंडा	॥)	भारत के महापुरुष	३)
मुगलों के अन्तिम दिन	५)	राजपूतों की बहादुरी	१)
मौर्य साम्राज्य का इतिहास	५)	महाभारत (सबल सिंह)	२)
बुद्ध का पुनर्जन्म	॥।=)	मुगलों का क्षय और विकास	३)
[illegible] स्वर्ग की यात्रा	१।)	युरप का इतिहास (भाई परमा०	४)
अमेरिकाके स्वाधीनता का इतिहास	२)	रूस का पंचायती राज्य	॥।)
आल्हा खण्ड	१॥)	सिखोंका उत्थान और पतन	१।)

प्रहसन कॉमिक हास्यरस

व्यंग बवंडर	॥)	गोबर गणेश	॥)
भंडाफोड़	।)	डबल जोरू	=)
मंगन रहु-चोला	॥।)	संपादक की दुम	।)
मेरी हजामत	॥।)	मेरी आह	॥।)

ऐतिहासिक थियेट्रिकल नाटक

महात्मा कबीर	१)	वीर बाला	।)
शाहजहाँ	१=)	शिव पार्वती	।।।)
झाँसी पतन	।।।)	भक्त तुलसीदास	१।)
दानी कर्ण	।।।)	अज्ञात शत्रु	१)
सूरदास	१)	भक्त मोरध्वज	।।।)
द्रौपदी चीरहरण	।।)	भक्त सुदामा	१)
दुर्गादास	१)	महाभारत नाटक	।।=)
चित्तौड़पतन	।।।=)	विनाश की घड़ी	१)
श्रवण कुमार	।।)	सभ्यता का शाप	१।)
भक्त ध्रुव	।।।)	गरीब हिन्दुस्तान	१)
वीर अभिमन्यु	।।।)	कृष्णाकुमारी	१)

सामाजिक थियेट्रिकल नाटक

अजामिल उद्धार	।।।)	तिलोत्तमा	।।)
संसार चक्र	।।।)	भक्त विदुर	।।)
अत्याचार	।।)	पतिव्रत	।।=)
आतशी नाग	।।)	एक घूँट	।।)
काली नागिन	।।=)	पांडव प्रताप	।।)
गरीब किसान	।।)	श्रीमती मंजरी	।।।)
तेगे सितम	।।।)	अबला की आह	।।=)
दुश्मने ईमान	।।=)	आजादी या मौत	।।।)
धर्मयोगी	।।।)	कलियुग की सती	।।।)
बगुलाभगत	।।)	खूने नाहक	।=)
शहीदे नाज	।।)	हिन्दू कन्या	१)
यहूदी की लड़की	।।)	दिल फरोश	।।)

धर्मोजय	॥।)	पाषाणी	॥।)
पतिभक्ति	॥।)	भारत दशा	॥।)
सतीलीला	॥।)	भारतवर्ष	॥।)
शरीफ बदमाश	॥=)	मशरकी हूर	१)
भारतरमणी	॥।)	हुब्बे वतन	॥)
दुखिया भारत	॥)	हिन्दू स्त्री	॥।)
पन्नो प्रताप	।=)	भीष्मप्रतिज्ञा	॥।)
अंजना	१=)	हिन्दू की गाय	॥)
बसपार	१=)	सौभाग्य सुन्दरी	॥।)

ऐतिहासिक उपन्यास

आनन्दमठ	॥।)	सम्राट चन्द्रगुप्त	२॥)
काला पहाड़	२।)	लालचीन	१।)
रूप नगर की राजकुमारी	३)	वीरराजपूत	१।)
अजेयतारा	१॥)	बेरगाढ़िया राजकुमार	२॥)
राजसिंह	१॥)	शशांक	३)
अमरसिंह	१।)	शैलबाला	१)
अल्लाहो अकबर	१॥)	अलिफ लैला	१॥)
कंकण चोर	२)	समाधि	१।)
रहम दिल डाकू	२)	गरम तलवार	१।)
कोहेनूर	१॥)	करुणा	३॥)
गंगा गोविन्दसिंह	१।)	साहसी राजपूत	१)
त्यागी युवक	२॥)	विलासिनी	१॥)
ऊषा अनिरुद्ध	२॥)	अन्याय का प्रतिकार	२।)
मेवाड़ का उद्धार	॥।)	अहंकार (प्रेमचन्द)	१)

...ञा	,,	३)	मंझली दीदी	,,	॥।)
...भूमि	,,	३)	बड़ी दीदी	,,	॥।)
...ाकल्प	,,	३॥)	लेनदेन	,,	॥।)
प्रेम चतुर्थी	,,	॥-)	परिणीत	,,	१)
...भूमि	,,	३।)	विराज बहू	,,	॥।)
...माश्रम	,,	३॥)	प्रतिज्ञा (प्रेमचन्द)		१॥)
प्रेम पचीसी	,,	२॥।)	गल्प समुच्चय	,,	२॥)
प्रेम प्रतिमा	,,	२)	जेलयात्रा		२)
प्रेम पूर्णिमा	,,	२)	चार क्रान्तिकारी		१)
प्रेम प्रसून	,,	१।)	माधुरी		१)
प्रेम द्वादशी	,,	॥।)	दिल का काँटा		१)
...प रत्न	,,	१)	कृष्णा कुमारी		१)
प्रेम तीर्थ	,,	१॥)	दाम्पत्य शास्त्र		१॥)
...वा सदन	,,	२॥)	स्त्री शिक्षा		२)
तपोभूमि		२)	स्त्रियों के खेल और व्यायाम		१॥)
कलंक कालिमा		१॥)	स्त्री और सौन्दर्य		२॥)
तलाक		२)	यौवन सौन्दर्य और प्रेम		१।)
...पःफाल		४॥)	यौवन और उसका विकाश		॥।)
अन्ना (टालस्टाय)		३)	गृहस्थ जीवन		१)
कामिनी कंचन		२॥।)	गृह धर्म		॥।)
कंकाल		३)	गृहलक्ष्मी		१।)
घर और बाहर		३॥)	नवीन पाक शास्त्र		१।)
घर जमाई		१॥)	पाक विज्ञान		३)
डकैत रमणी		॥।)	दुलहिन के पत्र		॥)
चरित्र हीन (शरद बाबू)		३।)	स्त्री के पत्र		१)
पंडितजी	,,	१॥)	विवाह समस्या (म०गांधी)		॥)

कुत्सित जीवन (म० गांधी) ।॥)
सुखी गृहिणी १)
सती दमयन्ती ॥)
नारी धर्मशास्त्र १॥)
स्त्री भूषण २)
भारतवर्षकी वीर मातायें ॥)
भारतकी सच्ची देवियाँ ।॥)
मनचाही सन्तान २॥)
माँ और बच्चा ।॥)
रजनी ॥=)
राजस्थानकी वीर रानियाँ १)
विदुषी क्षमा १॥)
विदुषी गार्गी ॥)
सती मदालसा ॥)
सती शुक्ला ॥)
सती सावित्री ॥)
सावित्री सत्यवान ।॥)
यौवन और सौन्दर्य २॥)

जीवन-चरित्र

कार्ल मार्क्स ।॥)
कृष्ण चरित्र २॥)
कृष्ण चरित्र (लालाजी) १।)
गणेश शंकर विद्यार्थी १॥)
गुरु गोविन्द सिंह १।)
जवाहर लाल नेहरू २)
देशभक्त मेजिनी ॥)
नपोलियन बोनापार्ट २।)
आर्य पथिक लेखराम १।)
वीर छत्रसाल १)
सम्राट अशोक (लालाजी) १।)
मनीषी चाणक्य १।)
महादेव गोविन्द रनाडे ।॥)
महाराणा हम्मीर सिंह १)
युधिष्ठिर ।॥)
रामकृष्ण परमहंस ≡)
समर्थ गुरु रामदास ≡)
लाला लाजपतराय ३)
वीर केशरी शिवाजी ४॥)
वीर वैरागी बन्दा ।॥=)
वीरोपाख्यान १।॥)
सम्राट चन्द्रगुप्त २॥)
कैसर की राम कहानी १)
गोस्वामी तुलसीदास १॥)
छत्रपति शिवाजी १)
नेहरूद्वय ।॥)
धन कुबेर कारनेगी १)
परशुराम ३)

कुछ अन्य पुस्तकें

कवितावली	१।)
भूषण ग्रन्थावली	२)
माँ का हृदय	२॥)
रानियाँ	१)
शिवा बावनी	।-)
सुदामा चरित्र	।)
समाज नाटक	॥=)
हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास	।―)

सामाजिक उपन्यास

कर्त्तव्याघात	२।)
प्रणय	२)
मीठी चुटकी	१।)
वन देवी	।।।)
घर जमाई	१॥)
कर्मभूमि	३)
हृदय की काँटा	१॥)
मधुबन	१।)

विविध विषय की पुस्तकें

गार्हस्थ्यशास्त्र	१)
प्रेमकली	१)
प्रेम लहरी	॥=)
कलरवा	१)
जीवनमरण	१॥)
धर्म और जातीयता	१)
चित्र पट	१॥)
उद्भ्रान्त प्रेम	॥=)
आदर्श महिला	१)
संध्या	१॥)
अधखिली कली	२॥)

जासूसी उपन्यास

त्रिवेणी	॥)
कृष्णवसना सुन्दरी	१॥)
अन्याय का प्रतिकार	२।)

ऐतिहासिक उपन्यास

बंग विजेता	१॥)
दुर्गेशनन्दनी	१।)
आँखों देखा महायुद्ध	२॥)
महाराणाप्रताप	१।)
मिठाई	।)
नमकीन	।-)
नानखटाई	।-)
जीवन धारा	॥)
संध्या	२)
पाप का पराभव	॥)
कैदी की कोठी	२॥)
बहिष्कार	२)
दीपमालिका	१॥)

अंधकार	१॥)	विधवा की आत्मकथा	२)
कुसुम संग्रह	१॥)	अबला की ,,	२)
वंदनवार	१।)	कन्या प्रबोधनी २ भाग	१=)
अश्रुकण	१)	स्त्री और सौंदर्य	४॥)
स्त्रियों के खेल और व्यायाम	१॥)	भाई के पत्र	१॥)
दाम्पत्य शास्त्र	१॥)	हितोपदेश कथा	॥।)
प्रेमकली	१)	ब्रह्मविज्ञान	१)
प्रणय	२)	स्वाधीन विचार	१)
विनोद शंकर व्यास की ४१ कहानियाँ	२)	स्वास्थ्य के प्राकृतिक साधन	१)
कमला	२)	स्त्री-शिक्षा	२)
मुन्नी की डायरी	१)	स्त्री-रोग विज्ञानम	३)
जादू का महल	१॥)	आदर्श गायन	॥)
मीना बाजार	१)	चुंबन मीमांसा	१॥)
जीवन के चित्र	१)	आविष्कार की कहानियाँ	॥।)
वियोग	॥।)	छत्रपति शिवाजी	१)
महाकवि चच्चा	१)	फुरफुर	।=)
पाक विज्ञान	२॥)	दोनों भाई	॥)
घरेलू विज्ञान	१॥)	अहा हा हा	।=)
भोजन ही अमृत है	॥।)	खून का तालाब	।=)
जलमिट्टी और उपवास	॥।)	कनेठी पड़ाका	।-)
दीर्घ जीवनकी कुंजी	१)	सौ मित्र	।=)
आरोग्य विज्ञान	१॥)	भारत के वीर बालक	।-)
काम विज्ञान	२)	हँसी खेल	।=)
कामकुंज	४)	गुब्बारा	।≡)
		महाभारत की कहानियाँ	।≡)

देश की सैर	।)	दिव्य दयानंद	१)
संसार की सैर	॥=)	ब्रह्मचर्य ही जीवन	॥)
हिंडोला	॥)	हम सौ वर्ष कैसे जीवें	१)
पक्षियों का व्याह	।)	गीतावली	१।)
झोपड़े सिंह	≈)	संस्कृत प्रवेशिका	१।)
मज़ेदार कहानियाँ	।=)	इटली का शहीद	२)
भारत की वीर बालाएं (दो भाग)	॥=)	मधुप	॥)
		कुरान की छानबीन	।=)
आदर्श जीवनियाँ	॥=)	शंकर शतक	।-)
संदिग्ध संसार	३)	हिन्दी कुरान ३ भाग	२॥)
स्त्री का हृदय	१॥)	बारंगा रहस्य	५)
रणधीर	१)	हृदय की ज्वाला	१)
मधुवन	१।)	विरजबह	॥)
सुखी गृहिणी	१।)	माखन मिश्री	॥)
अमलतास	॥)	पति पत्नी प्रेम	॥)
कमला कुसुम	१)	कलरव	१)
जासूस की डाली	१॥)	प्रणायाम तत्व	॥)
नेपोलियन बोनापार्ट	२।)	अरविन्द मंदिर में	॥)
पद्मपराग	२॥)	पृथ्वीराज चौहान	१)
अनाशक्तियोग	१)	धड़कता सूम	॥)
आर्यपथिक लेखराम	१)	कूरवेण	॥)
मस्तराम का झोला	१)	शुद्धि सनातन	॥)
मन्दिर प्रवेश	॥)	अमेरिका दिग्दर्शन	॥=)
मन्दिर प्रवेश	।)	औतारवाद मीमांसा	१।)
उड़न खटोला	१)	कलंक कालिमा	१॥)
इच्छा शक्ति	१)	धर्म इतिहास रहस्य	१॥)